समकालीन हिन्दी कविता में बाज़ारीकरण

(संदर्भः सन् 1990 के बाद)

SAMAKALEEN HINDI KAVITA MEIN BAZAREEKARAN
(SANDARBH : SAN 1990 KE BAD)

शोध प्रबंध

कालिकट विश्वविद्यालय की

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध

Thesis
Submitted to the University of Calicut
for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY IN HINDI

निर्देशक :

डॉ.प्रमोद कोवप्रत

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्ता :

मृदुला. पी.एम

शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

2017

Dr. PRAMOD KOVVAPRATH
Professor and Head
Department of Hindi
University of Calicut

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"Samakaleen Hindi Kavita Mein Bazareekaran (Sandarbh: San 1990 Ke Bad)"** is a bonafide record of research work carried out by **MRIDULA. P.M,** under my supervision and that no part of this thesis has hitherto been submitted for a Research Degree in any University.

C.U. Campus
Date:

Dr. Pramod Kovvaprath
(Supervising Teacher)

DECLARATION

I, **MRIDULA. P.M**, do hereby declare that this thesis entitled **"Samakaleen Hindi Kavita Mein Bazareekaran (Sandarbh: San 1990 Ke Bad)"** is a record of bonafide research carried out by me and this has not previously formed the basis for the award of any Degree, Diploma, Associateship, Fellowship other similar Title or Recognition. This research work was supervised by **Dr. Pramod Kovvaprath**, Professor, Department of Hindi, University of Calicut.

C.U. Campus
Date:

MRIDULA. P.M
Research Scholar
Department of Hindi
University of Calicut

अनुक्रमणिका

		पृ.सं.
प्राक्कथन		**i-v**
पहला अध्याय :		**1-38**
बाज़ार, बाज़ारीकरण और समसामयिक परिवेश		
1.1	बाज़ार का स्वरूप	
1.1.1	पुरानी संकल्पना	
1.1.2	बाज़ार का वर्तमान	
1.1.3	मुक्त बाज़ार	
1.2	बाज़ारीकरण	
1.3	उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण	
1.3.1	उदारीकरण	
1.3.2	निजीकरण	
1.3.3	भूमण्डलीकरण	
1.4	उनिभू प्रक्रिया का सांस्कृतिक पक्ष	
1.5	वैश्वीकरण-बाज़ारीकरण: अंतर्संबंध	
1.6	भारत का बाज़ारीकरण	
1.7	गैट करार और विश्व व्यापार संगठन	
1.8	बाज़ारीकरण की वर्तमान व्याख्या	
1.9	संस्कृति के नये रूप	
1.9.1	मॉल संस्कृति	

1.9.2 वस्तुकरण

1.9.3 उपभोक्तावाद

1.9.4 मुनाफा केन्द्रित जीवन दृष्टि

1.9.5 संबंधों और संवेदनाओं पर असर

1.10 बहुराष्ट्रीय कंपनियों का राज

1.11 विज्ञापन की दुनिया

1.12 मीडिया का हाथ

1.13 पेटेंट

1.14 तीसरी दुनिया के देशों की नियति

1.15 पूँजी की सत्ता

1.16 मनोवैज्ञानिक प्रभाव

1.17 ग्राहक पटाने के नये तंत्र

1.18 नई जीवन शैली

1.19 ऋणों का उत्सवीकरण

1.20 शिक्षा और स्वास्थ्य

1.21 खेती और किसान

1.22 पर्यावरण

1.23 चयन का अधिकार

1.24 बाज़ार में नारी

1.25 भाषा का बाज़ारीकरण

1.26 निष्कर्ष

दूसरा अध्याय :

समकालीन कविता में बाज़ारीकरण : एक पूर्व पीठिका **39-87**

2.1 भारतेंदु युग

2.2 द्विवेदी युग

2.3 छायावाद

2.4 प्रगतिवाद

2.5 प्रयोगवाद और नई कविता

2.6 समकालीनता की अवधारणा

2.7 समकालीन कविता

2.8 साठोत्तरी कविता- नब्बे तक

2.9 निष्कर्ष

तीसरा अध्याय :

बाज़ारीकरण के आर्थिक वाणिज्यिक पक्ष और कवियों का प्रतिरोध **88-160**

3.1 विषय प्रवेश

3.2 किसानों का वर्तमान संकट

3.3 गरीबी का वैश्विक परिदृश्य

3.3.1 बालमज़दूरी एवं उत्पीडन

3.3.2 अभाव और मज़दूर वर्ग

3.4 पर्यावरण का बाज़ारीकरण

3.4.1 मिट्टी का बाज़ार

3.4.2 नदी और पानी का बाज़ार

3.5 बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ

3.6 बाज़ार में नारी

3.7 विज्ञापन

3.8 उदारीकृत विश्व-बाज़ार व्यवस्था

3.9 बाज़ार का दबाव

3.10 निजीकरण

3.11 निष्कर्ष

चौथा अध्याय :

बाज़ारीकरण के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष और कवियों का प्रतिरोध **161-262**

4.1 आदमियत की पहचान

4.2 उपभोक्ता संस्कृति

4.3 घर-परिवार, रिश्ते और बाज़ार

4.4 मूल्य और बाज़ारीकरण

4.5 धर्म और बढ़ती सांप्रदायिकता

4.6 पश्चिमी संस्कृति का आकर्षण

4.7 गाँव का पर्यावरण और शहरीकरण

4.8 राजनीति का बाज़ार भाव

4.9 आदिवासी और विस्थापन

4.10 प्रकृति

4.11 सौन्दर्य, स्त्री और बाज़ार

4.12 भाषा और साहित्य

4.13 निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय :

बाज़ारीकरण के समय में काव्य-भाषा **263-294**

5.1 भाषा

5.1.1 अनौपचारिक भाषा

5.1.2 दृश्य भाषा

5.1.3 प्रतिरोध की भाषा

5.1.4 ज़िन्दगी की भाषा

5.1.5 चेतावनी की भाषा

5.1.6 जागृति की भाषा

5.1.7 हाशिएकृतों की भाषा

5.1.8 संबोधन की भाषा

5.2 शब्द विन्यास

5.2.1 कविता एक महावाक्य

5.2.2 लोक संस्कृति के शब्द

5.3 बिंब-प्रतीक योजना

5.3.1 प्रतीक

5.3.2 बिंब विधान

5.4 सूक्तियों का गठन

5.5 निष्कर्ष

छठा अध्याय : उपसंहार **295-308**

संदर्भ ग्रंथ सूची **309-326**

प्राक्कथन

प्राक्कथन

नव पूँजीवाद समकालीन समाजशास्त्र को आर्थिक संदर्भों में पुनः प्रस्तावित करने का वैश्विक तरीका बन गया है। पूरे विश्व में उदारवाद और बाज़ारवाद की मज़बूत अवधारणाओं के बल पर अर्थतंत्र की शोषणकारी व्याख्याएँ साबित हो चुकी हैं। पूँजी और शासन का अनैतिक गठजोड, आर्थिक विकास के मुखौटे पर समस्त दुनिया के लिए एक नई अर्थनीति का विकास कर रहा है और उसमें अवैकल्पिक रूप से जुड जाने के लिए देशों को मज़बूर बना दिया जा रहा है। उपभोक्तावादी आयामों पर संस्कृति को संजोकर प्रदर्शित करना उत्तराधुनिक कला बन गई है। अपने सकारात्मक पक्ष में भूमण्डलीकरण को विकास का पर्यायवाची समझाया गया है, किन्तु अपनी सूक्ष्म व्याख्या में वह आदमी और आदमियत की कीमत पर चलनेवाला बाज़ारतंत्र मात्र है ।

आज बाज़ार घर-परिवार में घुस गया है, आदमी-आदमी में जम गया है। समकालीन बाज़ार सुविधा और ज़रूरत का अंतर मिटाना अपना कार्यक्षेत्र नहीं बनाता बल्कि सुविधा-भोग को अनिवार्यताओं में बदल डालने में सामर्थ्य दिखाता है। व्यक्ति का अपनापन बाज़ार में खो जाता है और पूरी दुनिया की राजनीति आर्थिक सक्षमता पाने के लिए नव साम्राज्यवाद का समर्थन कर उससे समझौता करने के लिए तैयार हो गई है।

बाज़ारीकरण की प्रक्रिया वहीं से शुरू होती है जब व्यक्ति की मानसिकता अपने को वस्तु समझने में राजी हो जाती है। इस प्रक्रिया के सारे पक्ष मानवता और मानवीयता के लिए खतरनाक सिद्ध हो चुके हैं। पूरे जीवन को अर्थ के अलावा अन्य संवेदनशील नज़रियों से देखनेवालों को मालूम पडता है कि ये गुलामी के नये

सम्मोहक उपक्रम हैं। विश्व के स्पन्दनों को बाज़ार में मापना समाज के अस्तित्व के लिए कदपि सुरक्षित नहीं होगा।

बाज़ार में विकसित एक प्रतिसंस्कृति के सख्त प्रतिरोध के रूप में समकालीन साहित्य एक प्रतिसंसार की रचना कर रहा है। कारण तो यह है कि पहले की तुलना में आज का साहित्यिक-सांस्कृतिक वातावरण अधिकाधिक रचनाविरोधी एवं एकल आयामी होता जा रहा है। रिश्ते भी सामाजिक संदर्भों में नहीं आर्थिक संदर्भ में रूपायित तथा व्याख्यायित हो रहे हैं। यहीं समकालीन कवि परिस्थिति से समझौता न करके सृजनात्मकता के लिए संघर्ष करना अपनी 'समकालीनता' मानकर यही दोहराते रहते हैं कि कविता का अंत कभी भी न होने देंगे। समाज के एक वर्ग के सुख-सुविधा-भोग को भूखों-शोषितों के सामने प्रदर्शित करके, बाज़ार अपने प्रचारतंत्र का विस्तार कर रहा है, इसी का नाम बाज़ारीकरण बन गया है। समकालीन हिन्दी कविता इस अश्लीलता का सामना अपनी अभिव्यक्तियों के तीखेपन से कर रही है और कवि के समाज के प्रतिबद्ध होने की गवाही दे रही है। जीवन की प्राथमिकताओं और अनिवार्यताओं की पुनर्रचना करनेवाले बाज़ार के बाहर वे खडे हो जाते हैं ताकि मानवीयता के सशक्त बयान अभिज्ञापित कर सके।

समकालीन हिन्दी कविता में, विशेषकर नब्बे के बाद के कालखण्ड में, प्रखर होती उपभोक्तावादी सभ्यता कविगण को काफी चिन्तित कराती है। सबके सब बाज़ार के दायरे में सीमित होने का विरोध करना वे अपना दायित्व समझते हैं। उदारीकरण और निजीकरण में बढ़ोत्तरी देशहित में न चलकर बाज़ार हित में संपन्न हो रही है। अतः बाजारीकरण की सर्वव्यापी प्रक्रिया के विपक्ष में खडी हुई है नब्बे के बाद की हिन्दी कविता। लेकिन मतलब यह कदापि नहीं है कि कवियों का विरोध विकास का

है, बाज़ार का है। बल्कि बाज़ारीकरण के पीछे की जेहानियत का है, मुनाफे पर आधारित मानवताविरोधी धन केन्द्रण का है, गरीबी और बेरोज़गारी के बेसमझ रहने का है।

अतः हिन्दी कविता की समकालीनता बाज़ारीकरण की प्रक्रिया की विविधायामी प्रतिक्रियाओं से गुज़रनेवाली है। इसलिए ही **'समकालीन हिन्दी कविता में बाज़ारीकरण (संदर्भ: सन् 1990 के बाद)'** शोध विषय के रूप में समीचीन लगा। नब्बे के बाद की लगभग दो सौ कविताओं को लेकर मैंने अपना अध्ययन पूरा किया है। ज्ञानेन्द्रपति, अरुण कमल, एकांत श्रीवास्तव, भगवत रावत, लीलाधर जगूडी, पवन करण, विनय विश्वास, मदन कश्यप, मंगलेश डबराल, वीरेन डंगवाल, राजेश जोशी, प्रेमरंजन अनिमेष, विश्वरंजन, उमाशंकर चौधरी, उदय प्रकाश, कात्यायनी, जया जादवानी, अनीता वर्मा जैसे अनेक कवियों की विविधमुखी प्रतिरोधी- विकल्पों से गुज़रने का सुअवसर था प्रस्तुत अध्ययन।

अध्ययन को क्रमबद्ध और सुविधापूर्ण रख्ने के लिए उपसंहार सहित छह अध्यायों में विषय को बाँटा गया है।

पहला अध्याय **'बाज़ार, बाज़ारीकरण और समसामयिक परिवेश'** है, जिसमें बाज़ार की संकल्पना का आरंभ और वर्तमान चर्चित हैं। साथ ही साथ बाज़ार की विस्तृति के, पूरी दुनिया के बाज़ारीकरण में परिणत होने के आर्थिक सांस्कृतिक पडावों के उपक्रम और समकालीन परिदृश्य में सबको अपने में समेटनेवाले बाज़ार के विविधायामी स्वरूपों की भी चर्चा की गई है।

दूसरे अध्याय **'समकालीन हिन्दी कविता में बाज़ारीकरण : एक पूर्व पीठिका'** में आधुनिक कविता के आरंभकाल- भारतेंदुकाल से लेकर नब्बे तक की

कविता में बाज़ारीकरण के प्रतिरोध के विभिन्न तरीकों को आँका गया है। प्रशासनिक गुलामी से लेकर व्यापार की अंग्रेज़ी नीतियों से गुज़रकर, उदारवाद की नव-नीतियों तक पहुँचनेवाले भारत के आर्थिक माहौल में कवियों ने व्यक्ति के बाज़ारीकृत होने का कटु विरोध किया है और आधुनिक गुलामी के तकनीकों की पहचान करायी हैं।

तीसरा अध्याय **'बाज़ारीकरण के आर्थिक-वाणिज्यिक पक्ष और कवियों का प्रतिरोध'** नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत हाशिएकृत होनेवाले किसान, गरीब वर्गों के प्रति नब्बे के बाद के कवियों की संवेदनशीलता की चर्चा करता है। पर्यावरण, नारी, विज्ञापन, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, ब्रांड संस्कृति आदि के आर्थिक-वाणिज्यिक पक्षों में कवियों ने सशक्त ढंग से अपने मत ईजाद किये हैं और आर्थिक स्वावलंबन के स्वदेशी विकल्पों का समर्थन किया है।

चौथे अध्याय **'बाज़ारीकरण के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष और कवियों का प्रतिरोध'** में समकालीन संस्कृति में मानवीयता, मूल्य, रिश्ते, प्रकृति, गाँव, भाषा, साहित्य, धर्म, राजनीति, नारी अस्मिता जैसे विचारणीय पहलुओं पर उपभोक्तावाद के जम जाने की निराशा और सृजनशील प्रतिरोध की माँग पर चर्चा करती कविताओं का अध्ययन किया गया है।

पाँचवाँ अध्याय **'बाज़ारीकरण के समय में काव्य-भाषा'** है, जिसमें काव्य भाषा में मानव और उसकी अपनी ज़िन्दगी को बचाते रखने की इच्छा का प्राकट्य चर्चित है, शब्द समुच्चयों की दिशाओं पर विचार किया गया है।

अंतिम व छठे अध्याय **'उपसंहार'** में नब्बे के बाद की कविता का, बाज़ारीकरण के सर्जनात्मक प्रतिपक्ष बन जाने के विभिन्न दृष्टिकोणों का मूल्यांकन किया गया है, प्रतिरोध के पारदर्शी तरीकों पर विचार किया गया है।

कालिकट विश्वद्यिालय के हिन्दी विभागध्यक्ष प्रोफेसर प्रमोद कोवप्रत के निदेशन में यह शोधकार्य संपन्न हुआ है। विषय चयन से लेकर शोध प्रबंध के प्रणयन तक उन्होंने अपने बहुमूल्य सुझावों, विद्वतापूर्ण दिशानिर्देशों से मुझे एक शोधार्थी होने का एहसास दिलाया और समयोचित प्रोत्साहनों एवं सुधारों के ज़रिए, शोधकार्य के बीच में आए अंतः बाह्य संघर्षों से ऊपर उठाया। अपने पूजनीय गुरुवर प्रमोद जी के प्रति मेरी असीम आभारी तहे दिल से व्यक्त कर रही हूँ।

शोध सामग्री, संदर्भ एवं प्रेरणा के रूप में काम में आए ग्रंथों के लेखकों, उनके प्रकाशकों के प्रति भी मेरी कृतज्ञता ज्ञापित कर रही हूँ। विभाग के आदरणीय गुरुजनों, मेरे प्रेरणास्रोत रहे मित्रों, दफ्तर एवं पुस्तकालय के कर्मचारियों, शोध प्रबंध के टंकण एवं मुद्रण कार्यों से जुडनेवालों के प्रति भी मैं सर्वदा कृतज्ञ रहूँगी। मेरे शोध की गति को निरंतरता एवं सजीवता प्रदान करने में अपने परिवारवालों का स्नेह- सहयोग सबसे महत्वपूर्ण रहा है। उन सभी का स्नेहपूर्वक स्मरण कर रही हूँ।

शोध विषय के प्रति यथासंभव ईमानदार रहने का प्रयास किया गया है। इस शोध प्रबंध को विद्वानों एवं विषय में रुचि रखनेवाले पाठकों- अध्येताओं के सम्मुख सविनय प्रस्तुत कर रही हूँ।

हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय
दिनांक:

मृदुला. पी. एम
शोध छात्रा

पहला अध्याय

बाज़ार, बाज़ारीकरण और समसामयिक परिवेश

समकालीन जीवन-संदर्भों में उछाले जानेवाले 'सीमाहीन दुनिया' के सिद्धान्तों में अर्थकेन्द्रित जीवन दर्शन को प्रश्रय मिल रहा है। घर-परिवार से ज़्यादा हमारी सोच में शामिल होनेवाला 'बाज़ार' एक ख़तरनाक संस्कृति का अंकुश अपने हाथों में ले लेता है। 'मार्केटिंग' की सफलता की कहानियाँ मानव जीवन में व्यावसायिक व्यस्तताएँ भर देती हैं लेकिन भीतर से रसशून्य ज़िन्दगी की असफलता भी साथ चलती है। उत्पादन, उपभोग और उपभोक्ता में सामाजिक गतिविधियाँ बुरे ढंग से केन्द्रित रहकर पूरी दुनिया को 'बाज़ार' बनाने का षड्यंत्र रचती हैं।

एक बुनियादी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के रूप में अपने इतिहास का शुभारंभ करने के बाद अमर्यादित हद तक 'बाज़ार' की व्यापकता और पकड पहूँच गई हैं। व्यापार की सूक्ष्म संभावनाओं को विस्तृत करने के जितने तरीके बाज़ार के माध्यम से पूँजीपतियों द्वारा अपनाये गये, वे सब धनतंत्र की राजनीति पर सुदृढ रहे। व्यापार में बढ़ोत्तरी से देश के विकास के सुनहरे सपने दिखाये जाने लगे तो व्यक्ति के बाहर-भीतर बाज़ार की अवधारणा रूढ़ हो गई। 'भूमण्डलीकरण' की प्रक्रिया के आरंभ से लेकर दुनिया को बाज़ारीकृत करने की परोक्ष सूचना मिल रही थी तो अंतिम दो दशकों तक पहूँचकर बाज़ारानुकूल-बाज़ाराधृत वातावरण अपना अपरिमित ढाँचा प्राप्त कर चुका है। बाज़ार का पूरा इतिहास अर्थाधारित जीवन प्रणाली पर पनपकर, 'धन' को सर्वस्व मानने में परिणत हो चुका है।

1.1 बाज़ार का स्वरूप

एक समाज की आर्थिक संरचना में बाज़ार की भूमिका महत्वपूर्ण है। वह एक प्रकार से निर्णायक शक्ति के रूप में कार्यरत रहता है। सामाजिक विकास में व्यापार

का अवदान महत्वपूर्ण है और व्यापार के प्राण के रूप में विनिमय अर्थात् लेन-देन सक्रिय रहता है। व्यापार के लिए स्थान और अनिवार्य बुनियादी संसाधन प्रस्तुत करनेवाले 'बाज़ार' को स्वाभाविकतः व्यापार का मुख्य आधार माना जाता है। धन को गत्यात्मकता से जोडने के विभिन्न उपाय अपनाकर, बाज़ार अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति करता है और व्यापार में अपनी महती भूमिका का निष्पादन संपन्न करता है। अतः लोगों की आपसी हितसाधक क्रियाएँ संपन्न करके, पारस्परिक लेन-देन के लिए अनगिनत तरीके प्रोत्साहित एवं नियंत्रित करके, एक बुनियादी व्यापार व्यवस्था के रूप में, एक नितान्त प्रक्रिया के रूप में 'बाज़ार' मौजूद है।

'बाज़ार' की सामान्य व्याख्या में वह 'हाट' या 'मंडी' का पर्यायवाची शब्द है, बेचने एवं ख़रीदने का वह स्थान है, जहाँ तरह-तरह की दूकानें लगाई गईं हो और जहाँ किसी निश्चित समय या तिथि या अवसर पर व्यापार लगता हो।

सामान्यतः 'बाज़ार' शब्द, अपने-अपने मालों को लेकर बेच-ख़रीद के लिए एक स्थान में उपस्थित भीड को बिंबित करता है तो अर्थशास्त्रीय दृष्टि में उसका संबंध किसी विशेष स्थान से नहीं होता और बेचने-ख़रीदनेवालों का एक साथ उपस्थित होना भी आवश्यक नहीं होता।

विख्यात अर्थशास्त्री कोरनट 'बाज़ार' को यों पारिभाषित करते हैं- "अर्थशास्त्रियों के लिए बाज़ार किसी एक विशेष स्थान नहीं है जहाँ मालों की बिक्री-ख़रीदी होती है, बल्कि क्रेता-विक्रेताओं के बीच मुक्त सह-संबंधवाले, एक ऐसे पूरे प्रान्त से उसका मकसद रहता है, जहाँ समान माल की समान कीमत शीघ्र एवं सरल रूप से सुनिश्चित की जा सकती है।"[1]

1.1.1 पुरानी संकल्पना

बाज़ार का अस्तित्व और उसकी संकल्पना वर्तमानकाल का योगदान नहीं है। इतिहास लेखन काल से लेकर 'बाज़ार' की व्यवस्था की सूचना मिलती है। एक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में बाज़ार व्यवस्था की स्थापना लोगों को प्राप्त आय-संपत्ति और आर्थिक अवसरों के संवर्धन और संपर्क हेतु की गई थी। धन हो या माल, उसके आपसी लेन-देन का काम 'बाज़ार' द्वारा संपन्न होता था, जो व्यापार की बुनियादी प्रक्रिया का प्राथमिक रूप था।

मालों की विविधता और विशालता से लोगों को परिचित कराने का काम अपने ढंग से बाज़ार उसकी स्थापना के आरंभिक काल से ही करता आया है। हाट-पैंट लगाकर, मेले-तमाशे के साथ, एक विशेष दिन में बेच-ख़रीद होनेवाली बहुत बडी संस्था गाँवों-कस्बों में पुराने काल से ही लगाई जाती थी वही बाज़ार का आदिम रूप था। अतः स्पष्ट है कि उत्सवीकरण के इतिहास रचने में बाज़ार शुरू से ही समर्थ रहा है। सामाजिक-आर्थिक विकास प्रक्रिया को गति पहूँचाने में ऐसी व्यवस्था सहायक रही थी।

1.1.2 बाज़ार का वर्तमान

आज बाज़ार एक संस्कृति बनकर व्यक्ति के बाहर और भीतर फैला हुआ है। ज़रूरतें पूरी करने के माध्यम से ज़रूरतें पैदा करने तक बाज़ार की व्यापकता बढ़ गई है। भोगवादी संस्कृति और पूँजी के उन्मुक्त प्रवाह बाज़ार की ताकतों को सर्वोपरि बनाने की विचारधारा के प्रति समर्पित है। साम्राज्यवादियों ने अपनी योजनाओं की व्यावहारिक परिणति के लिए जिन माध्यमों का चयन किया है उनमें बाज़ार सबसे

सशक्त बन चुका है। नए पूँजीवाद की सारी प्रक्रियाएँ और गतिविधियाँ बाज़ार पर अधिष्ठित हैं।

उत्पादन से शुरू होकर उपभोक्ता की तलाश में बाज़ार की क्रियाएँ व्याप्त हैं। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक मध्यवर्ती के रूप में, या सेतु के रूप में बाज़ार काम कर रहा है, चाहे वह पूर्ण हो या अपूर्ण, प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, निश्चित हो या अनिश्चित।

आज बाज़ार दबाव और आकर्षण के विभिन्न चेहरों में अपना स्वरूप व्यक्त करता रहता है। पूरे विश्व में बाज़ार का राज चल रहा है, उसी की भाषा में बातचीत हो रही है, उसी के नियम पर अनुशासित होने की नियति पड गई है।

बाज़ार ऐसी नियामक ताकत बन चुका है कि जीवन में क्या करना है, कैसे करना है, क्या नहीं करना है, किसके लिए करना है, कब करना है, क्या खाना-पीना है, कौन-सी चाल-चलन, चिन्तन शैली, संस्कृति अपनाना है, ये सब बाज़ार बताता है, यहाँ तक कौन सी भाषा अपनानी हो।

1.1.3 मुक्त बाज़ार

खुली अर्थनीति और वैश्वीकृत उदारीकरण के फलस्वरूप बाज़ार का स्थिर रूप इतिहास बन गया है और 'मुक्त या खुले बाज़ार' की संकल्पना फैल गई है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया तीव्र होने लगी तो विश्व स्तर पर व्यापार खुला गया। क्षेत्रीय, प्रांतिक, प्रादेशिक, अंतर्जातीय, अंतर्देशीय व्यापार में पूरा विश्व समाया गया। एक सीमित बाज़ार वैश्विक बाज़ार में परिवर्तित हो गया। गाट करार के पारित होने के बाद बाज़ार की कल्पना ने भौगोलिक सीमाओं को तोडकर मुक्त व्यापार नीतियों को अपनाकर विस्तार पा लिया।

व्यवसाय के लिए बाज़ार को, विचार को, कल्पना को, निवेश को प्रतिबंधों के बिना, मुक्त कराने और खुले वातावरण में आदान प्रदान करने की अर्थनीति बनाई गई। मुक्त बाज़ार में पूँजी का मुक्त विनिमय और देशों के बीच के व्यापारिक प्रतिबंधों को हटाने के लिए आयात-निर्यात की नीतियाँ सरल बनायी गईं।

मुक्त बाज़ार के रूप में नया उपनिवेशवाद ही काम कर रहा है। विदेशी कंपनियों को आसानी से अन्य देशों में प्रवेश करने और व्यापार शुरू करने की रणनीति थी मुक्त बाज़ार की सर्जना। इसके साथ बाज़ार अपनी सीमाओं को तोडकर घर-घर में भी आ गया है।

मुक्त बाज़ार में मुक्ति या स्वतंत्रता का एक अर्थ यह भी रहा कि ग्राहक ही सर्वोपरि है और उनको अपने पसन्द की आज़ादी रहती है। कौन-सी चीज़ लेनी है या कौन सा उद्योग करना है, इस बात पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं है। यह बात उपभोक्ता पर निर्भर रहती है कि किस तरह की वस्तुओं का उत्पादन हो जाये, अतः बाज़ार में उपभोक्ता की पसन्द निर्णायक घटक बन जाती है। हर एक व्यक्ति को अपनी रुचि एवं पसन्द के अनुसार चीज़ें चुन लेने का अधिकार मुक्त बाज़ार में मिल जाता है।

आर्थिक उदारीकरण की परिणति के रूप में आई मुक्त बाज़ार की व्यवस्था में उपभोक्ता की सर्वोच्चता की जो गलतफहमी फैलाई गई जो बाद में ही खोखली स्थापित हो गई। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के व्यापारिक हित ही सर्वोपरी रहा और माल बेचने की कूट रणनीति ही मुक्त बाज़ार था।

मुक्त व्यापार के ओट में दुनिया की सारी संपत्ति को एक अल्पसंख्यक गण की सुविधा के लिए संचित एवं केन्द्रित किया गया जो हिंसात्मक अर्थतंत्र का भयानक

चेहरा था। मुक्त व्यापार आर्थिक लूट का नया रूप-धारण था। यह एक स्वाभाविक आर्थिक व्यवस्था की परिणति नहीं रही, बल्कि बहुराष्ट्रीय साम्राज्यवादियों एवं विश्व व्यापार संगठन के संयुक्त षड्यंत्र के फलस्वरूप बनाई गई एक कृत्रिम अर्थ व्यवस्था रही। यह मनुष्य को नागरिक नहीं मानकर मात्र उपभोक्ता के रूप में अर्थ संकुचित करनेवाला धनतंत्र बन गया। मुक्त बाज़ार का बाहरी रूप लुभावना है पर भीतर 'लोभ' ही छिपा हुआ है। उत्पादों का बहाव विकसित देशों से अविकसित और अल्पविकसित देशों की ओर होता है, उल्टा कभी भी नहीं होता। मुक्त बाज़ार आम आदमी की सुविधाएँ समाप्त कर पूँजीपतियों को संरक्षण देने में लगा हुआ है। मुक्त बाज़ार की स्पर्धात्मकता ही बाज़ारीकरण का पौषक बन गयी।

1.2 बाज़ारीकरण

"बाज़ारीकरण का तात्पर्य समूचे अर्थतंत्र को एक योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था से रूपान्तरित करके बाज़ार केन्द्रित संगठन बनाये जाने की प्रक्रिया से है।"[2] वस्तु, उत्पादक, उपभोक्ता या ग्राहक और अर्थ पर निर्भर एक समग्र संकल्पना है बाज़ारीकरण। इनमें 'अर्थ' बाज़ार की आत्मा के रूप में बाज़ारीकरण का केन्द्रबिन्दु रहता है।

आर्थिक प्रक्रियाओं में उदारीकरण, बाज़ारीकरण की महत्वपूर्ण प्रेरणा रहा है। सरकारी क्षेत्रों में प्रतियोगिता पर आधारित, बाज़ार केन्द्रित, निजीकृत व्यवस्था का समावेश किया जाता है।

बाज़ारीकरण में समाज के प्रत्येक घटक को वस्तु के रूप में माना जाता है जिसे बेचा या ख़रीदा जाता है। ग्राहकों की क्रयशक्ति अर्थात् किसी भी वस्तु को ख़रीदने की आर्थिक क्षमता इस प्रक्रिया को गतिशील बनाती है।

बाज़ारीकरण की व्यवस्था में प्रत्येक वस्तु का मूल्य रुपयों में ही प्रस्तुत होता है और हर आदमी सिर्फ ग्राहक ही बन जाता है। बाज़ारीकरण ऐसी उपभोक्तावादी संस्कृति का जन्मदाता भी बन गया।

बाज़ारीकरण का अर्थ हैं- "सीमित बाज़ार क्षेत्र का विस्तारीकरण होना, यह विस्तारीकरण भूमि से जुडा न होकर उत्पाद का सुविधाजनक रूप में उसी क्षेत्र में मिलना है जिसे ग्राहक या उपभोक्ता को खरीदने में मुश्किल न हो।"[3]

सारी भौगोलिक सीमाओं के बंधनों को तोडकर बाज़ार का विस्तारीकरण करना बाज़ारीकरण है। बाज़ार वैश्वीकृत हो गया है और बाज़ारीकृत दुनिया में हर उत्पाद और सेवा का बाज़ार इतना व्यापक एवं विस्तृत हो गया है कि पूरी दुनिया उसके स्पन्दन में जी रही है।

विश्व में चल रही सारी प्रक्रियाएँ उत्पादन केन्द्रित होती हैं और हर उत्पाद बिक्री के लिए बाज़ार ढूँढ रहा है। बाज़ारीकरण का फैलाव बहुत व्यापक है। अतः बाज़ारीकरण सिर्फ एक अवधारणा नहीं, बल्कि एक अनवरत प्रक्रिया है।

1.3 उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण

बाज़ारीकरण के तीन उपकरणों के रूप में उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण की युक्तियों और संयुक्तियों को ठीक से पहचानना होगा।

1.3.1 उदारीकरण

व्यापार पर लगाए गए बंधनों को कम करके देश के बाहर वस्तुओं को प्रवाहित करना, देशान्तर्गत पूँजी प्रवाह को मुक्त करने के लिए उपर्युक्त वातावरण

निर्माण करना, तकनीकी ज्ञान के मुक्त प्रवाह को मान्यता देकर उसके प्रसार हेतु उचित वातावरण निर्मित करना, आर्थिक व्यवहार में विदेशी कंपनियों को पूँजी लगाने की छूट देना, संयुक्त व्यापार का प्रोत्साहन, निर्यात बढ़ाने के लिए व्यापार दर में समायोजन निर्माण करना आदि आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उदारीकरण की नीतियों को देशों द्वारा अपनाया गया।

अनेक कारणों से उत्पन्न कट्टरताओं को दूर करके, बंधनों से मुक्त कराने की नीति उदारता कहलाती है तो आर्थिक दृष्टि से या बाज़ारीकरण के संदर्भ में उदारीकरण का प्रयोग संस्कृति की युक्ति के रूप में न होकर विपणन की नई प्रयुक्ति के रूप में होता है। प्रफुल्ल कोलख्यान की परिभाषा इस प्रक्रिया को और भी स्पष्ट करती है। "अपने विपणनकारी संकल्पों के कारण उदारीकरण मनुष्य से भी अधिक बाज़ार से जुडता है। यहाँ इसका अर्थ हो जाता है एक जगह बनी वस्तु का दूसरी जगह विपणन की निर्बाध सुविधा प्रदान करने में उदारता बरतना। राजकीय देनदारी तथा विभिन्न प्रकार के कर या तो हों ही नहीं या फिर बिल्कुल ही नगण्य हों।"[4]

1.3.2 निजीकरण

आर्थिक एवं पूँजी निवेश के क्षेत्र में निजी संस्थाओं एवं व्यक्तियों को प्रोत्साहित करना ही निजीकरण का आधार है। इसके फलस्वरूप देश के अर्थक्षेत्र में सरकारी प्रभाव धीरे-धीरे विलुप्त होता जाएगा, और सार्वजनिक सेवा से सरकार पीछे हटेगी।

सरकारी क्षेत्र को शेयर बाज़ार के माध्यम से निजीकृत करने का एक तरीका भी है, सरकारी उद्योगों के हिस्सों को शेयर बाज़ार के ज़रिए व्यक्तियों को हासिल करने का अवसर प्रदान किया जाता है और लगभग पूरे हिस्सों को अपनाकर उसी

संस्था का नियंत्रण पूर्ण रूप से उस निजी व्यक्ति या संस्था के हाथों मिल जाता है। निजीकरण की नीति की वजह से नष्ट पर चलनेवाली सरकारी संस्थाओं को मुनाफेदार बनाने का दावा कराके निजी व्यक्ति या संस्था सरकारी सेवा के क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित कर सकते है, बाद में सारी सेवाओं पर निजी व्यक्ति का एकाधिकार हो सकता है।

अस्सी के सालों में तीसरी दुनिया के देशों की आर्थिक प्रगति पर बडा संकट पड गया था और सरकारी संस्थाएँ लाभकारी नहीं थीं। इस संकट से बचने के लिए ही निजी क्षेत्र का स्वागत किया गया और आर्थिक मंदी को पार करने का निर्णय लिया गया। इस तरह वास्तव में निजीकरण प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता पर आधारित, एक बाज़ारीकृत व्यवस्था का जनक बन गया।

1.3.3 भूमण्डलीकरण

'भूमण्डलीकरण' जो कि वास्तव में 'पूँजी का भूमण्डलीकरण' है। भूमण्डलीकरण के विस्तार की साजिश पूँजीपति वर्ग कितनी सफलता से रच रहे हैं, कुमुद शर्मा इस पर यों प्रकाश डालते हैं- "विश्वव्यापी प्रभुत्ववादी शक्तियाँ यानि वैश्वीकृत शक्तियाँ भूमण्डलीकरण को नये-नये अर्थों में, नये-नये स्वरूपों में गढ़कर तरह-तरह से उसकी विश्वसनीयता सिद्ध कर रही हैं, भूमण्डलीकरण को निर्बाध बाज़ार आधारित अर्थ व्यवस्था के रूप में प्रत्येक देश पर थोप रही है।"[5]

भूमण्डलीकरण के नाम पर एक विश्व अर्थतंत्र और विश्व बाज़ार का निर्माण किया गया, जिससे प्रत्येक राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को अनिवार्य रूप से जुडना और सहयोग देना पडा। भूमण्डलीकरण नव पूँजीवाद और नवसाम्राज्यवाद के नये

उपनिवेश तंत्र अपनाकर राष्ट्रीय पूँजी और अंतर्राष्ट्रीय पूँजी की पारस्परिकता को बढ़ावा दे रहा है।

आधुनिक भूमण्डलीकरण का पहला सीधा और प्रधान अर्थ है- विश्व का अर्थ तंत्र और विश्व बाज़ार व्यवस्था का निर्माण, जिसमें प्रत्येक देश को अपने राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को हर हालत में प्रगति और विकास के लिए भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से जुडना ही पडेगा।

भूमण्डलीकरण का दूसरा अर्थ संदर्भ विश्व राजनीति से जुडा हुआ है। विश्व भर की राजनीति को इसी अर्थतंत्र और बाज़ार की ज़रूरतों के आधार से संचालित-नियंत्रित करना। तीसरा अर्थ है- कंप्यूटर, इंटरनेट और मीडिया क्रान्ति के ज़रिए संसार के समुदायों, राष्ट्रों, संस्कृतियों और व्यक्तियों के बीच उभरते तनावों, संघर्षों, दूरियों, मतभेदों, विरोधों, द्वन्द्वों को निरन्तर कम-से-कम करने का प्रयत्न करना। चौथा अर्थ एक भूमण्डलीय संस्कृति, जहाँ देशी संस्कृतियों का विलयन हो जाता है, को गढ देना। इस प्रकार आर्थिक, राजनीतिक, प्रौद्योगिक, और सांस्कृतिक संदर्भों में भूमण्डलीकरण की व्याख्या होती है।

अतः भूमण्डलीकरण अपने मूल अर्थ में भूमण्डीकरण है। दुनिया को ऐसी जगह बना देना जहाँ सिर्फ बेच-ख़रीद ही होता रहता है।

विश्व बैंक की परिभाषा के अनुसार भूमण्डलीकरण का मतलब उपभोग योग्य वस्तुओं पर लगाया गया आयात नियंत्रण धीरे-धीरे नष्ट करना और आयात चुंगी के दर को कम करना है।

अतः भूमण्डलीकरण राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था को दुनिया की अर्थ व्यवस्था के साथ जोडने की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा संपूर्ण विश्व को एक विशालाकर मंडी या बाज़ार में रूपान्तरित या संचित किया जा सकता है।

संक्षेपतः खुली प्रतियोगिता और तंत्रज्ञान की नयी नीतियों के नींव पर उत्पादन-बिक्री बढ़ाना, और संपूर्ण दुनिया के लिए एक ही मंडी को रूपायित करना और विश्व को अर्थ में संकलित करना भूमण्डलीकरण है।

उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण का संयुक्त प्रयास नव उपनिवेशवाद के धन तंत्रों को अपनाकर बाज़ारीकरण की प्रक्रिया को त्वरित कर देता है।

1.4 उनिभू प्रक्रिया का सांस्कृतिक पक्ष

भूमण्डलीकरण में अर्थ ही संस्कृति बन जाता है। इसमें एकायामी संस्कृति की अवधारणा को प्रोत्साहित किया जाता है। क्रयशक्ति के आधार पर मनुष्य (उपभोक्ता) के अस्तित्व-अनस्तित्व निश्चित हो जाता है। नव उदारवाद की इन तीनों नीतियों में पूँजीपति वर्ग के हितों की, उनके व्यापारिक हितों की रक्षा होती है, क्रयशक्तिविहीन व्यक्ति की अपनी पहचान नष्ट हो जाती है। बाज़ार में हर चीज़ को वस्तुपरक दृष्टिकोण से देखा जाता है, चाहे वह धर्म, संस्कृति, भावना जैसी मानवीय घटक क्यों न हों। एक धनाधृत संस्कृति का अस्तित्व बनाया हुआ है।

1.5 वैश्वीकरण- बाज़ारीकरण : अंतर्संबंध

भूमण्डलीकरण के परिप्रेक्ष्य में देखने पर ही बाज़ारीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। भूमण्डलीकरण एक ही विश्व व्यवस्था कायम करने के लक्ष्य को लेकर संकल्पित है। विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से विश्व को एक बाज़ार का रूप प्राप्त हुआ है। भूमण्डलीकरण को गति प्रदान करने में सूचना-प्रौद्योगिकी, संचार माध्यमों की महत्वपूर्ण भागीदारी भी रही है। भूमण्डलीकरण की अवधारणा के पीछे

विश्वबाज़ार और विश्वपूँजी जैसी संकल्पनाएँ ही समाविष्ट थीं। भूमण्डलीकरण के साथ उदारीकरण की नीति को जोडकर 'बाज़ारोन्मुख्री उदारवादी लोक-तांत्रिक विश्व पूँजीवाद' जैसी नई संकल्पना बनाई गई।

भूमण्डलीकरण का प्रबल पक्ष आर्थिक एकत्रीकरण है। भूमण्डलीकरण के कारण उत्पन्न खुली अर्थव्यवस्था, विश्व बाज़ार की सत्ता, समाज की सोच को भी बदलने में कामयाब होती है।

भूमण्डलीकरण की व्यवस्था को कार्य के स्तर पर लागू किया जाना बाज़ारीकरण है। भूमण्डलीकृत संस्कृति में नव साम्राज्यवाद का सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठान बाज़ार है। भूमण्डलीकरण अपने कार्यक्षेत्र में उन्हीं को वरीयता दोता है जिनमें बेचने-ख़रीदने की अधिक क्षमता होती है। यह क्रयशक्ति ही बाज़ार क रीढ़ की हड्डी बन गई है, जिसके बल पर उपभोक्ता वर्ग का स्तर निर्धारण किया गया।

बाज़ारीकरण को भूमण्डलीकरण का परिचायक तत्व कहा जा सकता है। वैश्वीकृत बाज़ार के दौर में हर उत्पाद या सेवा का बाज़ार पूरी दुनिया में व्याप्त है।

आधुनिकता के एक बहुत बडे परिणाम के रूप में भूमण्डलीकरण को बताया गया है जिसको विभिन्न लोगों और दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के बीच बढ़ती हुई अन्योन्याश्रिता या पारस्परिकता की परिभाषा दी गई है। दुनिया भर के परिवर्तनों के अनुरूप विश्वस्तर के आर्थिक परिवेश का निर्माण और समाज में उसकी महती भूमिका का निर्धारण और प्रतिस्पर्धात्मक-मुनाफाकेन्द्रित व्यवस्था में समावेश भूमण्डलीकरण-बाज़ारीकरण की संयुक्ति है।

1.6 भारत का बाज़ारीकरण

भारत में 1980-90 का समय राजनीतिक दृष्टि से अस्थिरता का समय था। बार-बार चुनावों के कारण राजकोश का स्तर घटता गया। केन्द्र की सरकारों का जल्दी-जल्दी गिरने और अस्थिरता के कारण विदेशी निवेश में कमी आ गई। देश की बिगडती आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए रिजर्व बैंक से सोना गिरवी रखकर कर्ज लेना पडा। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए भारत को अपनी अर्थनीति में आमूल परिवर्तन करना पडा। इसी आधार पर भारत को उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण को स्वीकारना पडा।

घरेलू उद्योगों को अधिक प्रतिस्पर्धात्मक बनाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत के औद्योगिक निर्यात में सन् 1991 में नई औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी। इस नीति का प्रमुख उद्देश्य भारत की औद्योगिक अर्थव्यवस्था को अनावश्यक नौकरशाही नियंत्रण से मुक्त करना था। भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण चालू करना पडा ताकि विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण किया जा सके, प्रत्यक्ष निवेश पर लगे हुए प्रतिबंधों को हटाना था और देशी उद्यमकर्ताओं को एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार कानून द्वारा लगाई गई रूकावटों से मुक्त करना था।

उदारीकरण के अंतर्गत निजी क्षेत्र के विनिमय एवं नियंत्रण को खुला रूप प्रदान किया गया तथा संरक्षणवादी प्रत्यक्ष नियंत्रण हटा लिये जाने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था भूमण्डलीकरण के दौर में प्रवेश कर पाई। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश आकर्षित करने का प्रयास किया गया।

सन् 1990 का पूरा दशक नई आर्थिक नीतियों द्वारा भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की प्रक्रिया के भारत में लागू किए जाने का कालखंड था जिसने भारतीय आर्थिक परिदृश्य को पूरी तरह से बदल डाला। 1991 के भयावह आर्थिक संकट के चलते भारतीय शासक वर्ग इन नीतियों को अपनाने के लिए मज़बूर हुआ था।

भारत का मुद्रा-विदेशी मुद्रा कोश सिकुडकर मात्र एक अरब डॉलर रह गया था जो महीने भर के आयातों के लिए भी काफी नहीं था। विदेशी ऋण 80-81 के 21 अरब डॉलर से बढ़कर 1990-91 तक 83 अरब डॉलर हो गये थे और इसमें दीर्घकालिक गैर-सरकारी निजी ऋणों का हिस्सा 28 प्रतिशत से बढ़कर 41 प्रतिशत हो गया था। मुद्रास्फीति की दर दहाई का आँकडा पार कर चुकी थी और राजकोषीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 10 प्रतिशत हो गया था। भुगतान संतुलन की स्थिति काफी नाजुक हो गई थी और अर्थव्यवस्था में अराजकता व्याप्त थी।

1992 के अंत तक घोषित नई आर्थिक नीति दरअसल सार्वजनिक क्षेत्रों के संकुचन तथा बाज़ार क शक्तियों के विस्तार की नीति रही।

व्यापार के सारे नियंत्रण समाप्त किये गये, साम्राज्यवादी पूँजी के लिए दरवाज़े खोले गये, टैरिफ कम किये गये और आयात से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाए गये।

इस प्रकार भारत के बाज़ारीकरण-भूमण्डलीकरण के पीछे एक तरफ वैश्विक साम्राज्यवाद का दबाव था तो दूसरी ओर अपने घोर आर्थिक संकट को पार करने की ज़रूरत।

1.7 गैट करार और विश्व व्यापार संगठन

पूँजीवादी व्यापारिक व्यवस्था में विनिमय को सुविधाजनक बनाने की दृष्टि से अनेक आर्थिक इकाइयों का गठन किया गया था। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा

कोष आदि की कल्पना इसी को लक्ष्य करके की गई थी। बाद में 1947 में व्यापार में संलग्न देशों की सहमति के आधार पर दुनिया के व्यापार को स्थिति के अनुसार नियमित करने के लिए गैट (जेनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ) कायम किया गया। 23 देशों के बीच एक अस्थायी करार के रूप में यह पारित किया गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के भयानक आर्थिक संकट और अस्थिरता को पार करने की दृष्टि ही इसके पीछे थी। इस करार के लक्ष्य निम्नलिखित बताये गये थे- जीवनस्तर को ऊँचा उठाना, रोजगार सुरक्षा, दुनिया के संसाधनों का पूर्ण उपयोग, उत्पादन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विस्तृत करना। सन् 1994 तक विश्वव्यापार के नियम बनानेवाला संगठन यही रहा। इस क्रम में चलकर समझौते के 'उरुग्वे चक्र' के पूरा होने पर दुनिया के अधिकांश देशों द्वारा गैट समझौते पर हस्ताक्षर किया गया और सन् 1995 में विश्व व्यापार संगठन अस्तित्व में आया।

गैट के अगले चरण के रूप में विश्व व्यापार संगठन बनाया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियंत्रण, उदारीकरण और पर्यवेक्षण विश्व व्यापार संगठन के लक्ष्य थे। दुनिया के 142 देश इसके सदस्य बने, जिसमें 90 प्रतिशत वैश्विक व्यापार संचालित किया गया। व्यापार के क्रियाकलापों को सुविधाजनक बनाना, व्यापार करारों का कार्यान्वयन, व्यापार नीतियों का मूल्यांकन और संशोधन, व्यापार से जुडे हुए अन्य संगठनों से सहयोग, विकासशील देशों के व्यापार नीति संबंधी समस्याओं पर सलाह आदि उद्देश्यों की पूर्ति इसके द्वारा बतायी जाती है। गैट एक अस्थायी करार था तो विश्व व्यापार संगठन एक स्थायी संगठन।

अपने मूल उद्देश्यों से बढ़कर विश्व व्यापार संगठन का कार्य क्षेत्र और भी सूक्ष्म और विस्तृत हो गया। विश्व व्यापार संगठन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ही नहीं, देशों

की आंतरिक नीतियों और जनजीवन के हर पहलू को नियंत्रित करने का औज़ार बन गया। विश्व स्तर पर व्यापार खुल गया और सरकारी क्षेत्र के ऊपर निजी क्षेत्र का प्रभुत्व स्थापित हो गया। भूमण्डलीकरण और बाज़ारीकरण की राजनीति विश्व व्यापार संगठन की ओर से सुगम बनायी गई। मुनाफे की खोज में पूँजी के अनन्त सफर को इसके द्वारा तीव्रगति मिल गई। उत्पादन और व्यापार के नाम पर अविकसित और अल्पविकसित देशों को अमरीकी वर्चस्ववाले इस संगठन ने आर्थिक गुलाम बनाया है।

1.8 बाज़ारीकरण की वर्तमान व्याख्या

बाज़ार का एकमात्र उद्देश्य अधिक से अधिक उत्पादन करना तथा लाभ कमाना है। बाज़ार मूल्यों से नहीं धन से चलता है और मानवीय संवेदनाओं और भावनाओं से उसका कोई संबंध-सरोकार नहीं है। समकालीन परिवेश में बाज़ार के वर्चस्व को समाज और मनुष्य के वर्चस्व से अधिक मौलिक और प्रामाणिक माना जाता है।

बाज़ारीकरण में चीज़ों की खोज में व्यक्ति को बाज़ार में घूमने की ज़रूरत नहीं पडती है, माल हर एक का पीछा करता है। सुविधा-असुविधा के परवाह किये बिना हर घर में घुस जाता है। बाज़ार जीवन का केन्द्र और माध्यम बन जाता है।

1.9 संस्कृति के नये रूप

बाज़ारीकरण एक शब्द नहीं रहा है- एक पूरी संस्कृति को प्रतिबिंबित करता है। भूमण्डलीय अवस्था नामक एक संस्कृति, जहाँ पूँजी का एकाधिकार पुरानी संस्कृति को मिटाकर नई संस्कृति की स्थापना करती है, और वह विकसित हो चुकी है।

सुविधाजीवी संकीर्णता संस्कृति के ऊपर हावी रहती है। बाज़ार की राजनीति इतनी सशक्त बन गयी है कि सामाजिकता, संवेदनशीलता, सम्मान की योग्यता आदि का भी निर्धारण वह कर सकती है। चीज़ें ज़िन्दगी को घेर रही हैं।

बाज़ारीकरण ने बहुसांस्कृतिक समाज को एकायामी (अर्थाधारित) बना दिया है। विकास के कार्यान्वयन में पूरी जनता अपनी प्रकृति, संस्कृति और अस्मिता से कट रही है।

एक ऐसी संस्कृति पनपने लगी जिसका मुख्य आधार उपभोग के चरम मूल्यों पर आधारित सुख्रवाद है। "वस्तुओं की तरह सांस्कृतिक माल भी अपने छली बिंबों के बल पर आधुनिक ज़िन्दगी को उसके बुनियादी सारतत्व से विच्छिन्न कर देते है। वे 'तर्क' की विदा कर 'मज़ा' को ज़िन्दगी का चरम लक्ष्य बना देते हैं।"[6] संस्कृति के औद्योगीकरण की प्रक्रिया चल रही है। बाज़ार के नए-नए माल ज़िन्दगी को बाह्याडंबरपूर्ण बनाते हैं। बाज़ार में आदमी अपने सुख्र-दुख्र को ख्रोजने की स्थिति निर्मित हो गई है। जन चेतना को भरमाने, जड बनाने, नियंत्रित करने और उसे सहमति के साँचों में डालनेवाली प्रायोजित संस्कृति में संस्कृति के नये-नये रूप उभरे हैं- शॉपिंग मॉल संस्कृति, यूज़ एण्ड थ्रॉ संस्कृति, फास्ट फूड संस्कृति आदि।

1.9.1 मॉल संस्कृति

ज़रूरत की चीज़ों की ख्रोज में दिनों-हफ्तों तक इधर उधर घूमने की आवश्यकता नहीं पडती है। शॉपिंग मॉल में उपभोक्ता के लिए सब कुछ तैयार हैं। चीज़ों से घर भर देने की इच्छा उत्पन्न करके सारी वस्तुएँ ग्राहक की प्रतीक्षा में सँजोकर आकर्षित ढंग से मॉलों में उपलब्ध हैं।

टेलीशॉपिंग, होम डिलिवरी आदि तंत्रों के माध्यम से विश्व बाज़ार घर में ही दाख़िल हो गया है। बैंकों की ऋण नीतियाँ, ए.टी.एम मशीन तथा क्रेडिट-कार्डों की भरमार से क्रयशक्ति को जागृत किया जा रहा है।

शॉपिंग मॉलों में पूरा देश वातानुकूल होकर झाँक-चमक रहा है। मॉल, सूपर बाज़ार तथा डिपार्टमेंटल स्टोर्स के ज़माने में वस्तु की गुणवत्ता और कीमत का कोई संबंध नहीं रहता। वस्तु की ख़रीदारी और आवश्यकता का भी कोई संबंध नहीं है।

1.9.2 वस्तुकरण

बाज़ार के लिए सब कुछ चीज़ है। बाज़ारीकरण जीवन के हर कोने, अस्तित्व के हर रूप का वस्तुकरण करता है। बाज़ार में उसकी कीमत निर्धारित किया जाता है और दुनिया के बाज़ार में उसकी ख़रीद-बिक्री होती है। लीलाधर मण्डलोई ने आदमी के वस्तुकरण को ठीक ही आँका है- "पूँजीवादी सभ्यता में मनुष्य को वस्तु बनाने की जो सर्वग्रासी प्रक्रिया चलती है उसका शिकार मनुष्य की चेतना ही नहीं उसकी इन्द्रियाँ भी होता है। कोई भी उद्योग केवल उपभोग की वस्तु ही नहीं पैदा करता उस वस्तु की ज़रूरत और इच्छा भी पैदा करता है।"[7]

1.9.3 उपभोक्तावाद

बाज़ार उपयोगितावाद और प्रतियोगितावाद पर आधारित है। बाज़ार चीज़ों के लिए भूख़ पैदा करता है। हर चीज़ उपयोगिता पर आधृत होकर निर्मित होती हैं। एक आम इन्सान को अपनी सीमा और ज़रूरत से ज़्यादा चीज़ों का इस्तेमाल करवाने के लिए अनेक मनोवैज्ञानिक औजार, बाज़ारीकरण में उपलब्ध हैं। उपभोग की लालसा को मनुष्य पर लादना उपभोक्तावाद है।

"उपभोक्तावाद ने आधुनिक युग में धीरे-धीरे पैसे का आदमी से ज़्यादा महत्व कर दिया है। परिणाम स्वरूप मानवीय संबंध और संवेदना के सबसे निश्छल कोनों में भी बाज़ार पहूँच गया और पैसा अहम हो गया। चीज़ें ख़रीदना और इस्तेमाल में लाना ही उपभोग है। उपभोक्तावादी समाज में वस्तुओं का कोई उपयोगितामूल्य नहीं रहता सिर्फ उपभोगमूल्य होता है। आदमी बडी आसानी से पूँजीवाद की 'कृत्रिम ज़रूरतों' के मनोवैज्ञानिक जाल में फँस जाते हैं।"[8] शंभुनाथ जी की उपरोक्त व्याख्या बाज़ारीकरण में उपभोक्तावाद के दूरगामी परिणामों को उद्धृत करती है।

विकास की नई व्याख्या आई है कि उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन निरंतर हो जाएँ और उनकी पहूँच भी बढ़ती जाएँ और मनुष्य (उपभोक्ता) ज़्यादा से ज़्यादा उपभोग के लिए प्रस्तुत हो जाएँ। विकास का मतलब भी उपभोक्तावाद पर टिका हुआ है, उसमें शामिल हो गया है।

बाज़ार का इस्तेमाल मनुष्य नहीं कर रहा है, अपने मुनाफे के लिए बाज़ार मनुष्य और मनुष्यता का बुरा इस्तेमाल करता रहता है। बाज़ार द्वारा बनाई और बढ़ाई गई कृत्रिम जीवन शैली में शर्म-नैतिकता की परिभाषा तक बदल गई है। विनय विश्वास इस वस्तुस्थिति को नगण्य नहीं मानते हैं- "बाज़ार के लिए मनुष्य नहीं है। मुनाफे के हित में दुनिया को अनुकूलित करनेवाला या स्वयं अनुकूलित होनेवाला यंत्र है।"[9] मनुष्य की सोच, चिन्तन शक्ति, उसकी क्षमता, योग्यता, महसूस करने की शक्ति तक केवल उपभोग तक सीमित रखना बाज़ार का तंत्र है।

सार्वजनिक सेवाओं का वस्तुकरण और निजीकरण तथा सामाजिक उपलब्धियों का बाज़ारीकरण आदि के द्वारा आर्थिक एकरूपीकरण की नयी-नई नीतियाँ अपनाई

जाती हैं। आर्थिक दृष्टि पर ही जनता की सोच-समझ और क्रियाकलाप सीमित रहती है। संस्कृति के भूमण्डलीकरण के नाम पर स्थानीय संस्कृतियों को विच्छिन्न करा देता है। अपनी सार्विक संस्कृति और मूल्यों को बाकी दुनिया पर आरोपित कर रही है पश्चिमी दुनिया।

1.9.4 मुनाफा केन्द्रित जीवन दृष्टि

उदारीकृत बाज़ार व्यवस्था पर आधृत परिवेश का एकमात्र ध्येय मुनाफा ही होता है। आम आदमी आर्थिक विकास में गुण भोक्ता नहीं, उपभोक्ता है जो पूँजीवाद में मुनाफे के लिए चालू वर्ग है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की धुरी है मुनाफा। मुनाफे की इस अंधी हवस में उत्पादन को बेतहाशा बढ़ाया जाता है, सट्टा बाज़ार महत्वपूर्ण होता चला जाता है और साथ में उत्पादन लागत को कम रखने के लिए मज़दूरी को नियंत्रित रखा जाता है। बाज़ारीकरण की एक परिभाषा भी ऐसी है- मुनाफे की खोज में पूँजी का अनन्त सफर बाज़ारीकरण है। बाज़ार मनुष्य से अधिक मुनाफा को तथा उत्पादन से ज़्यादा पैकिंग और मार्केटिंग को महत्व देता है। सारी चीज़ बिकाऊ हैं जो मुनाफे पर केन्द्रित हैं।

1.9.5 संबंधों और संवेदनाओं पर असर

यंत्र युग में मानवीय संबंधों और संवेदनाओं पर भी बाज़ार का हमला है। बाज़ार में उपभोक्ता के जेब के समान मानव संबंध सरोकार और संवेदनाएँ भी सिकुड रही हैं। मनुष्य का वस्तुकरण उनकी भावना-चेतना को भी वस्तुवादी एवं बिकाऊ बनाता है। मूल्य परिवर्तन की दिशा अजनबीपन से भरी हुई है। व्यक्तियों का मिलना-जुलना लगभग समाप्त हो चुका है। पूँजी संग्रह, निजी उपभोग आदि के

कारण रिश्तों में भी बडी दरार पड गई है। एक-दूसरे के सुख-दुःख की चिन्ताएँ समाप्त हो रही हैं। मनुष्य पशु की भाँति संवेदन-विहीन जीवन जीने को मज़बूर हो गया है। मानवीय संवेदनाओं पर बाज़ार का अतिक्रमण चल रहा है। विश्व गाँव में भौगोलिक दूरियाँ कम होती जा रही हैं मानव के बीच भावनात्मक-संवेदनात्मक दूरी बढ़ती ही जा रही है। गैर-बाज़ारू और गैर-व्यावसायिक क्रियाकलापों के लिए अब ज़िन्दगी में थोडी भी जगह नहीं है। विश्व बाज़ार व्यवस्था की नियति में मनुष्य नगण्य और अस्तित्वहीन हो जाता है। चीज़ों की तरह मनुष्य संबंधों का भी उपयोग और उपभोग हो रहा है।

1.10 बहुराष्ट्रीय कंपनियों का राज

भूमण्डलीकरण ने बहुराष्ट्रीयकरण पर बल दिया है, परिणामस्वरूप बहुराष्ट्रीय कंपनियों का उदय हुआ। भौगोलिक सीमाओं से मुक्त उपग्रहीय प्रौद्योगिकी के कारण साधिकार प्रवेश पा गई बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने शक्तिशाली राष्ट्रों की मनोवांछित संस्कृति या अपसंस्कृति को तीसरी दुनिया के देशों के घर-घर पहूँचाना शुरू कर दिया है। जनता की चित्तवृत्ति को भी बदलने में वे सफल हुई हैं। ये कंपनियाँ वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था के सशक्त उदाहरण हैं जिनका कार्यक्षेत्र एक से अधिक देशों में है।

बाज़ार-व्यवसाय के रूप में ही ईस्ट इण्डिया कंपनी ने भारतीय आज़ादी को छीना था, आज की बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी उससे भी सशक्त औजारों को लेकर तीसरी दुनिया के देशों को आर्थिक गुलाम बनाने की दौड में हैं।

आज का जीवन ही एक पैकेज बन गया है, जो बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ प्रयोजित कर रही हैं। ये अपने विशाल प्रचार तंत्रों के माध्यम से हमारे अभावों के प्रति हमें

जगाती रहती हैं और हीनता भाव भरती रहती हैं। दबाव और मज़बूरी के बाज़ार तंत्र, पचंड विज्ञापनों- मुफ्त गिफ्टों आदि के ज़रिए, बिक्री का कार्यान्वयन भी करती रहती है। कंपनियों ने हमारे मन, मस्तिष्क और जेबों पर कब्जा बन गया है, जीवन की सारी गतिविधियों पर कब्जा कर लिया है।

1.11 विज्ञापन की दुनिया

सार्वजनिक रूप से वस्तुओं की श्रेष्ठता और उपादेयता को सिद्ध करने के लिए विचार प्रस्तुत कर माल बेचने की कला बहुत पुरानी है। अंतर केवल यह है कि उस युग में विज्ञापन अपने इतने वैविध्यमय स्वरूप और बहुआयामी भूमिका में सामने नहीं आया था। आज विज्ञापन की संस्कृति ने व्यापार जगत् में अंतः प्रवेश कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है।

प्रतिस्पर्धात्मक बाज़ार में विज्ञापन सबसे सशक्त हथियार है। विज्ञापनों के माध्यम से ही बाज़ार घर घर में पहूँच गया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ चीज़ों के उत्पादन व्यय से ज़्यादा विज्ञापन पर व्यय करती रहती हैं और विज्ञापन के जादू से अपने उत्पाद के हक में उपभोक्ता के मनोविज्ञान को बदल डालने में सफल और सक्षम सिद्ध हुई हैं।

उपभोक्तावाद के फैलाव के लिए बाज़ार अनेक तरह के हथकंडे अपनाता है जिसका सबसे असरदार रूप विज्ञापन है।

विज्ञापन में सौन्दर्य एवं गुणवत्ता का देहीकरण किया जाता है और एक प्रयोजित संस्कृति का निर्माण किया जाता है। बाज़ार में चीज़ों की पहूँच और सीमा का विस्तार विज्ञापन करता है। आदमी में ज़रूरत और इच्छा पैदा करने की कला

विज्ञापन जानता है। विज्ञापनों के माध्यम से उत्पादों को बेचने के लिए स्त्री को भोगपरक दृष्टिकोण से प्रयोग में लाया गया। विज्ञापनों द्वारा मालों की ज़रूरत या गैर ज़रूरत के परवाह किए बिना बनावटी माँग पैदा कराके बिक्री में बढ़ोत्तरी की जाती है।

1.12 मीडिया का हाथ

सैटेलाइट और साइबर स्पेस पर आधारित सूचना की बाढ़ ने बाज़ारीकरण को तेज़ी गति प्रदान की। उपभोक्तावादी दर्शन को मीडिया द्वारा एक सशक्त पृष्ठभूमि मिली है। बडे अख़बार और टी वी पाठकों-दर्शकों का संबोधित नहीं करते, वे सीधे उपभोक्ताओं को संबोधित होते हैं। मीडिया के माध्यम से बाज़ार की भाषा और चिन्तन का प्रसार और प्रचार होता जा रहा है।

मीडिया बाज़ार का सांस्कृतिक दूत है। दुनिया का वर्तमान इससे आक्रान्त है। मीडिया वास्तविक दुनिया के समानांतर एक दुनिया रचता और परोसता है। मौत और बलात्कार को भी मीडिया अपनी प्रतिभा से उल्लास बना डालता है। उसका प्रमुख सरोकार न सच है, न संवेदना, प्रमुख सरोकार है- मुनाफा। चैनलें अपनी रेटिंग बढ़ाने के लिए आत्मदाह और बलात्कार का भी लाइव टेलीकास्ट कर रही हैं। मनुष्य की अपनी संवेदनाओं की ओर अहमियतों की ओर मीडिया की आँख सदैव खुली हुई हैं। इंटरनेट और टेलीशॉपिंग की पहूँच अन्य बाज़ार तंत्रों से ज़्यादा है।

मीडिया का रूप विश्व मीडिया के रूप में तब्दील हुआ है। मीडिया ने उत्पादों की दुनिया को उपभोक्ताओं के सामने खोल दिया अतः बाज़ार को उपभोक्ताओं तक पहूँचा दिया। अपने नये नये प्रयोगों एवं उपायों के माध्यम से बाज़ार को विस्तृत एवं

उसके उद्देश्यों को स्पष्ट कराने में इलक्ट्रॉनिक और नव इलक्ट्रॉनिक मीडिया सिद्धहस्त हैं। चीज़ों की दुनिया नहीं, ग्राहक की रुचि का क्षेत्र जो भी हो, शिक्षा, कला, तकनीकी, ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति के बाज़ार भी मीडिया प्रस्तुत कर रहा है। मीडिया के नये-नये रूप भी उपभोक्ताओं की परिधि एवं पहूँच में उपलब्ध कराये जाते हैं। "मीडिया मानव जीवन को प्रभावित करनेवाले हर क्षेत्र को बाज़ार के रूप में प्रस्तुत करके उपभोक्ताओं की नवीन चेतनाओं को जागृत कर रहा है। तथा उन्हें पूरा करने का मार्ग भी प्रशस्त कर रहा है।"[10] बहुराष्ट्रीय कंपनियों की अर्थनीतियाँ ग्राहक पर लादने के प्रभावी तरीके मीडिया जानता है। बडे ही कलात्मक और मनोरंजक ढंग से, विज्ञापनों के माध्यम से खुली अर्थ पद्धति व्यक्त कर रहा है। अतः मीडिया बोलनेवाला बाज़ार है, बाज़ार की संकल्पना के मूर्त रूप को प्रस्तुत करनेवाला उपकरण है।

अश्लीलवृत्ति, अपराध, नारी यौन शोषण, अनैतिक मूल्यों का सामाजीकरण और नीतिकरण मीडिया के द्वारा हो रहा है। बाज़ार के सारे स्पन्दन, गतिविधियाँ मीडिया के ज़रिए उपभोक्ता तक पहूँचते हैं लेकिन आज मीडिया अतिशयता का शिकार है अतः अविश्वसनीयता के आरोप से बच नहीं सकता। मीडिया मानव की सोच-समझ को बाज़ार की दिशा में परिवर्तित करती है।

1.13 पेटेंट

पेटेंट नई उत्पादन प्रविधियों तथा मौलिक तकनीकी परिवर्तनों के लिए राष्ट्रीय सरकारों द्वारा कंपनियों को इनके प्रयोग के लिए दिये जानेवाला सीमित एकाधिकार है। कोई भी कंपनी जब नई तकनीक पर आधारित कोई उत्पाद बनाती है या पहले से उपलब्ध किसी उत्पाद में सर्वथा नवीन तकनीकी परिवर्तन करती है तो इस प्रक्रिया

में किए गए शोध आदि में बडी धनराशि व्यय होती है। अतः इसके फलस्वरूप कंपनी को उचित सुरक्षा के तर्क पर पेटेंट लागू किया जाता है। लाभ के लूट-खसोट पर आधृत निजीकरण के नवसाम्राज्यवादी आर्थिक परिवेश में पेटेंट शोषण का नया रूप बन गया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक हितों का संरक्षण पेटेंट के द्वारा किया जा रहा है।

पेटेंट के आधार पर ऐसे बीज का भी उत्पादन किया जा रहा है जिनका दुबारा उपयोग नहीं किया जा सकता इसे अंधक बीज कहा जाता है। इसमें निहित वाणिज्य तंत्र साफ है- हर बार किसान को नए बीज ख़रीदने के लिए बाज़ार में आने पर बाध्य करना तथा बीज़ों के बाज़ार पर एकाधिकार स्थापित करना। गरीब तथा अल्पविकसित देशों में चल रही उत्पादन प्रणालियों पर असुरक्षित होने का आरोप लगाकर उन्हें बन्द किया जा रहा है ताकि बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने उत्पादों के लिए अबाध बाज़ार मिल सके। पेटेंट के आधार पर हर चीज़ के उत्पादन और विपणन में केन्द्रण आ जाता है और उस केन्द्रण की परिधि में बाज़ार चलता है।

1.14 तीसरी दुनिया के देशों की नियति

उदारीकरण की नीतियाँ अविकसित और अल्पविकसित देशों के बहुआयामी शोषण का सबब बन गई हैं। उपनिवेशवादी शक्तियों के लिए बेहद सस्ता श्रम और विशाल उपभोक्ता बाज़ार के केन्द्र हैं ये देश। सस्ता माल डंप करके, देशी उत्पादन नष्ट कराके कंपनियाँ अपने माल को तीसरी दुनिया के देशों में मनमानी कीमतों पर बेच रही हैं।

तीसरे विश्व के देश बाज़ारीकरण का अर्थ यह लगाते हैं कि उससे विश्वव्यापार में-विश्व बाज़ार में भागीदारी बढ़ानी पडती है। विश्व के अमीर और शक्तिशाली देशों

पर उनकी निर्भरता इस सीमा तक बढ जाती है कि अंततः उनका देश राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से गुलाम हो जाता है। औद्योगिक-आर्थिक रूप से विकसित देशों को अपने विकास के लिए कच्चे माल के स्रोतों की आवश्यकता थी और साथ ही अपने औद्योगिक उत्पाद की खपत के लिए नए बाज़ारों की भी। विश्व के अविकसित देश इन दोनों माँगों की पूर्ति कर सकते थे- वे कच्चे माल के धनी भी थे और परिष्कृत औद्योगिक उत्पादों के लिए अमित संभावनाओं से भरे बाज़ार भी।

1.15 पूँजी की सत्ता

बाज़ारीकरण मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं के ऊपर पूँजी की सत्ता स्थापित कर देता है। इसमें पूँजी मानवता का दम घोंट देती है। समाज पर पूँजी हावी हो जाती है और मनुष्यता पीछे छूट जाती है। बाज़ारीकरण विश्व के सभी देशों को एक ऐसे आर्थिक तंत्र में जकडने की कोशिश कर रहा है जहाँ पूँजी का ही प्रत्यक्ष शासन चलता है। विश्वपूँजी विकासशील दुनिया की आर्थिक व्यवस्था पर ज़ोरदार प्रहार करके अपना अधिकार जमाने की सबल कोशिश कर रही है।

पूँजी की स्वतंत्र आवाजाही से न केवल व्यापार उन्नत होता है, बल्कि इस विनिमय से सांस्कृतिक रूपान्तरण भी संभव होता है। मुक्तबाज़ार के कारण पूंजी के सारे रास्ते खोले गये और पूंजीपतियों के लिए संचय के रास्ते के सारे व्यवधान हटा दिए गए। प्रतिरोधों को निष्प्रभावी करने में भी पूंजीवाद सफल हुआ है।

1.16 मनोवैज्ञानिक प्रभाव

बाज़ार एक ऐसे समाज मनोविज्ञान का जाल फैलाता है जिसमें आकर्षण और दबाव दोनों हैं। आदमी के सामने ज़रूरतों का अंबार लगा दिया गया हैं और उन

ज़रूरतों को पूरा करने के लिए बाज़ार घर-घर की चौखट पहूँच गया है। ज़रूरत भर की चीज़ों के साथ नहीं जीवन-निर्वाह करनेवाला आदमी एक बुनी हुई सभ्यता का अंग बनता जा रहा है।

चीज़ों भरे बाज़ार से गुज़रकर आने के बाद आदमी अपने आपको हीन समझने लगता है। बाज़ार उनको मज़बूर करता है कि, मानसिक हीनता पैदा करता है कि, आप सुन्दर नहीं है तो आपको सामाजिक सम्मान नहीं मिलेगा। सुन्दर होने के लिए ऐसी चीज़ों का उपयोग करें। यदि आपके पास क्रयशक्ति नहीं है तो आप बाज़ार के बाहर हैं। चीज़ों से भरे मकान (घर) में भी साधारण आदमी ख़ालीपन महसूस करता है। बाज़ार में मनुष्य की पहचान भी बेचनेवाला और ख़रीदनेवाला-दो ही रूपों में सीमित है। बाज़ार मनुष्य की विचार व भाव शक्ति को इस हद तक पालतू बनाती है कि यह भी उसके प्रभाव क्षेत्र से बाहर झाँकने न पाए। यह मनुष्य के अन्तर्जगत पर बाज़ार का मोहक आक्रमण है। जनमानस बाज़ार के अधीन है और उसकी परिधि में घूम रहा है।

चिन्तन की शक्ति पर पहले ही हमला किया गया है, अब महसूस करने की शक्ति को भी बाज़ारीकरण धीमी बनाता रहता है। उपभोक्तावादी आकर्षण की बहुस्तरीयता ने असन्तोष का वातावरण भी पैदा कर दिया है। व्यक्ति बाज़ार में खडा आधा-अधूरा हो गया है, स्वाभिमान खो गया है।

मुक्तबाज़ार चयन की स्वतंत्रता प्रदान करता है। विकल्पों के भ्रम में, सत्ता की साम्राज्यवादी सभ्यता के बहु आयामी पहलुओं और बाज़ारीकरण की संस्कृति के बीच अस्तित्व की चिन्ता में आधुनिक मानव की मानसिकता भटकती है। मालों की

भरमार में, मॉलों में, शॉपिंग में व्यक्ति का जीवन फँसा हुआ है। मुनाफेदारी की तीव्र आन्तरिक प्रवृत्ति से मानसिक रूप से बाज़ार का गुलाम बन जाता है आदमी।

1.17 ग्राहक पटाने के नये तंत्र

बिक्री बढाने के नये तरीकों में होम डिलिवरी, टेली शॉपिंग, इंटरनेट सेल आदि आधुनिक रूप उभर आए हैं। 'सेल' में इतने प्रतिशत 'फ्री' या 'गिफ्ट' देने की पद्धति है, जिसमें पुराना पड रहा या खराब हो रहा माल नई बिक्री के साथ मुफ्त में देकर बिक्री बढ़ाने और ग्राहक पटाने का प्रयत्न किया जाता है। उत्तर पूँजीवाद अपने बाज़ार को सीमित कर अथक क्रयशक्ति रखनेवाले तक अपने को समेट लिया है और उन्हीं को दूसरे से पहले फँसाने की होड लगी हुई है। इस होड के कारण उत्पादन से अधिक महत्व मार्केटिंग का हो गया है क्योंकि माल के स्तर पर सभी लगभग एक जैसे हैं और एक जैसी चीज़ें माँग के अनुपात में बहुत अधिक बना रहे हैं। वितरण व्यवस्था का स्थान प्रबंधन ने ले लिया है। जो सामान पहले नुक्कड की दूकान पर मिल जाता था उसकी जगह मॉल ले जाते रहे हैं।

1.18 नई जीवन शैली

आर्थिक और सामरिक शक्ति से संपन्न और विज्ञान और प्रौद्योगिकी में अत्यंत विकसित पश्चिमी देश एकीकरण के अभियान में विश्व की नाना विविधताओं को दुर्बल करते हुए सबको अपने ही साँचे में ढाल रहे हैं। आर्थिक एकीकरण ने जीवन के सभी क्षेत्रों को स्पष्ट रूप से प्रभावित किया है। तकनीकी और आर्थिक शक्तियों के षड्यंत्र में विश्व के हर कोने में जीवन का पारस्परिक ढ़ाँचा टूटा है और सदियों की जीवन शैली में बदलाव की लहरें उठी हैं।

नए विश्व की आर्थिक गतिविधियों के राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव गहरे और दूरगामी हैं। एक ही स्थान पर भयावह असमानतावाली जीवन पद्धतियाँ साथ-साथ उभरी हैं। सातवें आसमान को छूती जीवनशैली के साए में ही नाली का जीवन भी पनप रहा है। प्रसार माध्यमों पर पूँजी का वर्चस्व है और वे विश्व की सांस्कृतिक विविधता के प्रति अकल्पनीय असंवेदनशीलता दिखाते हुए पाश्चात्य देशों, विशेषकर अमरीका के जीवन मूल्यों और जीवन शैली को सब पर थोपने के लिए कृतसंकल्प दिखाई देते हैं। इसका एक सबूत गरीब देशों में सेक्स और हिंसा के प्रति बढ़ती सहनशीलता है, दूसरा बाज़ार की प्रेरणा से उत्सव की तरह प्रचारित नए-नए दिवस हैं, जैसे वैलेंटाइन डे, जो सहज ही जनमानस को अपनी गिरफ्त में ले लेते हैं। कुछ और चीज़ें हैं जो संकेत करती हैं कि संस्कृतियाँ अपनी अद्वितीयता भुलाकर पश्चिमी जीवनशैली के आगे घुटने टेक चुकी है। हर दिवस मनानेवाला घोर पश्चिमी अन्दाज़, जवानी और मस्ती को दिखाने के लिए मद्यपान, मांसाहार आदि का उपयोग जैसे नई-नई शैलियाँ जीवन को घेर रही हैं।

इंटरनेट और वर्ल्ड वाइड वेब द्वारा प्रवाह पा रही सूचना-प्रौद्योगिकी के अधीन में जीवन पद्धतियाँ नियमित हो जाती हैं।

1.19 ऋणों का उत्सवीकरण

क्रयशक्ति बढ़ाने के लिए बैंक प्रतिबद्ध हैं। शॉपिंग के लिए पैसा चाहिए तो बैंक ऋण देंगे। आडंबरपूर्ण जीवन की ज़रूरतें पूरी करने के लिए कार ऋण, हॉम ऋण आदि ऋणों की मेलाएँ बैंकों द्वारा चलाई या मनाई जा रही हैं। उदार नीति पर ऋण लेकर व्यक्ति सुखी जीवन अपना सकता है। सोना खरीदने के लिए ऋण देंगे, सोने की गिरवी पर ऋण देंगे और गिरवी झुकाने के लिए भी ऋण मिल जाएगा।

निजी बैंकों की ऋण नीतियों का सामना करने के लिए सरकारी क्षेत्र के बैंकों द्वारा भी ऐसे मोहक ऋण दिये जाते हैं। आम आदमी के जेब के प्रबंधक बन जाते हैं बैंक और उनके ऋण। ऋण भोगी नहीं पहचान रहा है कि उसका मूल काटा जा रहा है।

1.20 शिक्षा और स्वास्थ्य

शिक्षा और स्वास्थ्य को मुनाफेदार न ठहरकर उन पर किये गये व्यय को सरकार द्वारा कम कराने की राजनीति के कारण, निजी क्षेत्र ने उन दोनों को सबसे लाभदायक उद्योग बना दिये हैं। शैक्षिक संस्थाओं में निजीकरण का, उसी क्रम में चलकर बाज़ारीकरण और पण्यकरण का बोलबाला चल रहा है।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में इन्फेर्टिलिटी अस्पतालों का भरमार है। जीवन शैली अस्पतालों की भी कमी नहीं है। विशिष्टीकरण का विस्तृत दस्तावेज़ है इस क्षेत्र में। विज्ञापनों के प्रभामंडल में पडकर जो फास्ट फूड संस्कृति विकसित हुई, उसके परिणामस्वरूप ही बीमारियों में विविधता आ गई। इन विविधताओं को विशेष तरीके के अस्पतालों में बाँटकर इलाज की व्यवस्था भी है, आँख्र, कान, नाक, त्वचा, बाल, हृदय आदि के लिए विशेष अस्पतालें हैं। बहुमूत्र, चर्बी बढ़ना आदि से पीडित बीमारों की संख्र्या बहुत अधिक हैं। टी.वी. पर दृष्टि डालकर भोजन भी कर सकते हैं और व्यायाम भी कर सकते हैं।

1.21 खेती और किसान

नई आर्थिक नीतियों के नाम पर भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम मुल्कों पर लागू की गई नव उदारवादी नीतियों के तहत कृषि को बाज़ार के रहमोकरम पर छोड दिया गया। कृषि को अनुत्पादक घोषित करके उसपर किये जानेवाले ख्रर्च में

अंधाधुंध कटौतियाँ की गईं। इससे एक असमाधेय खाद्यान्न संकट का भी दरवाज़ा खोला गया।

बहुराष्ट्रीय उद्योगों के नाम पर कृषिभूमि को किसानों से छीना गया और वे लाखों की संख्या में आत्महत्या करने को विवश हुए। विशाल मॉल, बहुमंजिला इमारतें बन रही हैं और कृषि-भूमि सिमटती जा रही है। कृषि पर पूर्णाधिकार हासिल करने का बहुराष्ट्रीय निगमों का एक छलपूर्ण तरीका यह है कि बीज़ों को पेटेंट की परिधि में लाना और ऐसे बीज़ों को विकसित करना, जिनका दोबारा प्रयोग नहीं किया जा सकता। किसानों पर उदारीकरण की नहीं उधारीकरण की नीतियाँ चल रही हैं।

कृषि के क्षेत्र को सीमित करने से उत्पन्न खाद्यान्त संकट को पार करने के लिए खाद्यान्नों के आयात पर ज़ोर दिया गया। खेती करनेवाले किसान, खेती न करनेवाले मज़दूर बन गये।

विश्व व्यापार संगठन के कृषि से जुडे तीन दस्तावेज़ों- 'व्यापार संबंधी बौद्धिक संपदा अधिकार समझौता' (ट्रिप्स), 'स्वच्छता एवं वानस्पतिक स्वच्छता समझौता' (एस.पि.एस.ए) और 'कृषि पर समझौता' (ए.ओ.ए) के तहत बीज़ों को बौद्धिक संपदा घोषित कर इनके आदान-प्रदान पर रोक लगाए गए। किसानों के श्रम और अनुभवों से विकसित फसलों का पेटेंट करा लिया। फसल से बीज बचाकर प्रयोग करने की पारंपरिक विधि भी अब अपराध की श्रेणी में आ गई है।

दूसरी समझौता विश्वव्यापी स्तर पर खाद्यान्न की गुणवत्ता के अंतर्राष्ट्रीय मानकों के लागू करने के नाम पर देशी उत्पादन के तौर-तरीकों पर सीधा हमला करता है।

कृषि पर समझौते के तीन प्रमुख अंग हैं। पहला व्यापार उदारीकरण, दूसरा-आयात उदारीकरण और तीसरा-घरेलू सब्सिडी में कटौती। व्यापार उदारीकरण का अर्थ है कल्याणकारी राज्य के नाम पर किसानों के प्रति बरती जा रहीं समस्त 'उदारताओं' को समाप्त कर संपूर्ण कृषि व्यवस्था को बाज़ार के अनुदार हाथों में सौंप देना।

आयात उदारीकरण का उद्देश्य है कृषि उत्पाद निर्यातकों के लिए सभी प्रकार के आयात प्रतिबंधों को समाप्त कर अबाध बाज़ार उपलब्ध कराना।

तीसरे के तहत सब्सीडियों को बाज़ार के खुले खेल में अवरोध बताकर धीरे-धीरे खत्म किये जाने का प्रावधान है।

इन समझौतों का पूरा मसौदा विकसित देशों के धनी किसानों और बीज खाद बनानेवाली निगमों के हितों को ध्यान में रखकर बनाया गया है।

गरीब देशों के किसान इनके बीच पिसकर खेती छोडने का निर्णय ले रहे है या अपनी फसल को खेतों में ही जलने को मज़बूर हो रहे हैं। बाज़ार के खेल में उनको अनुत्पादक ठहराये जा रहे हैं।

1.22 पर्यावरण

जल्दी से जल्दी और अधिक से अधिक लाभ कमाने की होड में पर्यावरण का अनियंत्रित शोषण और अति उत्पादन को दिया जानेवाला प्रोत्साहन प्रकृति के विध्वंस में परिणत होता जा रहा है। निजीकरण के नाम पर प्राकृतिक संपदाओं पर, स्वच्छ जल पर, वायु पर भी बहुराष्ट्रीय निगमों का अधिकार चल रहा है। जल की

स्वच्छता और शुद्धता की परख और प्रमाणीकरण वे करेंगे और पानी को बोतल में बंदकर बेचेंगे।

भूमण्डलीय संस्कृति में पृथ्वी घर नहीं बाज़ार है। दिन प्रतिदिन विकराल होती जा रही प्रकृति, विकास की नई परिभाषाओं की चरम परिणति है। प्रदूषण के नये-नये रूपों में प्रकृति तडप रही है, हाँफ रही है। पर्यावरण माने आज प्राकृतिक रूप नहीं, फ्लैट, इमारतें और बाज़ार हैं। बहुमंजिलवाली इमारतों के कारण धरती का संतुलन खो जाता है और भूकंप के हेतु भी बन जाते हैं। विकास के बीच पर्यावरण को कैसे सुरक्षित रखें, यही सवाल है।

मनुष्य और प्रकृति का रिश्ता भोग्यवस्तु और उपभोक्ता के रिश्ते में बदल हो चुका है। प्रकृति मानव के लिए सबसे कम पूँजी के निवेश पर अधिक लाभ पहूँचानेवाला बाज़ार बन गई है।

1.23 चयन का अधिकार

उपभोक्ता के सामने सारी चीज़ें उपस्थित होती हैं। बाज़ारीकरण में उपभोक्ता को राजा ठहराने की खोखली नीति है जिसके मायाजाल में हर मानव हतप्रभ और विवेकहीन बन गया है। उसके सामने विकल्प हैं लेकिन असल में विकल्प नहीं विकल्पों का भ्रम है। विज्ञापनों की भरमार और उनके मनोवैज्ञानिक परिणामों से लोग अनावश्यक वस्तुओं को बुनियादी आवश्यकता के रूप में देखने लगे हैं। चुनने का अधिकार है, लेकिन विकल्प नव पूँजीवादी शक्तियाँ तय करके, निश्चित करके बाज़ार में उपलब्ध कराती हैं। इस प्रकार की स्वतंत्र बाज़ार नीति मोहक ढंग से उपभोक्ता के सामने प्रस्तुत है।

1.24 बाज़ार में नारी

भूमण्डलीकरण ने स्त्री को बाज़ार में एक उत्पाद के रूप में प्रस्तुत किया जहाँ उसके सौन्दर्य और गुण बिकाऊ है। स्त्री को अर्थ विस्तार की नीतियों में सबसे सस्ते श्रम के रूप में इस्तेमाल किया गया। व्यापार की मानसिकता बाज़ार की पहचान है, यहाँ हर चीज़ उपभोग्य है, नारी भी अलग नहीं है। स्त्री के संदर्भों में बाज़ार की दृष्टि वस्तुवादी है और विज्ञापन में नारी के सौन्दर्य का देहीकरण किया जाता है। "भूमण्डलीकरण के व्यापार में वस्तु का जिस प्रकार से आयात-निर्यात हुआ है, उसमें स्त्री के प्रति पारंपरिक वस्तुवादी अवधारणा का इस्तेमाल किया गया, जिसका सांस्कृतिक फायदा पुरुषों को मिल रहा है।"[11]

एक ओर तो नारी के कार्य क्षेत्र को भूमण्डलीकरण ने विस्तृत बना दिया है, आर्थिक आधार और अपना पहचान प्रदान की है तो दूसरी ओर उसको घाटे और फायदे के बीच की चीज़ बना दी है।

सेक्स टूरिज़्म जैसे स्रोतों से विदेशी मुद्रा कमाने की नीति भी स्त्री-देह की बाज़ार में खरीद-बिक्री का उत्तम नमूना है।

1.25 भाषा का बाज़ारीकरण

अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार की लहर में भाषा की पहचान को सुरक्षित रखने की चुनौती का ज़माना आ गया है। सूचना-प्रौद्योगिकी की गतिशीलता में अपनी सूक्ष्म, गहन और प्रभावी उपस्थिति दिखानेवाली भाषा का ही आज अस्तित्व है। भाषा अब केवल भावाभिव्यक्ति या विचार-विनिमय तक सीमित नहीं, व्यवहार संप्रेषण, विज्ञान-

तकनीक-व्यापार-उद्योग की ओर से विशालता प्राप्त कर रही है। बाज़ार की भाषा एवं विज्ञापन की भाषा विकसित हुई है।

विश्व भाषा की संकल्पना के आगे देशी भाषाएँ पीछे हटायी जा रही हैं। भाषा के क्षेत्र में एकीकरण की प्रक्रिया अंग्रेज़ी भाषा के वर्चस्व का प्रतिफलन है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना प्रभाव दिखाने के लिए भाषा को अपना वैश्विक रूप दिखाना अपरिहार्य बन जाता है। भाषा के दो रूप-माल बेचनेवालों की भाषा और ग्राहकों की भाषा-सामने आते हैं जो बाज़ारू भाषाएँ हैं।

1.26 निष्कर्ष

व्यक्ति में सुखवादी और सुविधाभोगी सत्ता चल रही है। अपने परिवार से लेकर समाज तक के सारे संबंधों को वह उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ताकता है। भौतिकवादी मानसिकता में संवेदनाएँ सूख रही हैं या तो यांत्रिक बन रही हैं। दिखावट और समझौतों के बल पर ज़िन्दगी आगे बढ़ रही है। एक सामाजिक दृष्टिकोण खोकर व्यक्ति स्वकेन्द्रित चीज़ बन गया है जो पण्यता में, धन-प्रभुत्व में, क्रयशक्ति में अपना अस्तित्व समझकर जीवन के अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं से छिपकर रहता है।

दुनिया में बाज़ार की सर्वोपरि नियामक की हैसियत से संस्कृति सबसे अधिक प्रभावित हुई है। संचार क्रांति और मीडिया विस्फोट से बाज़ारीकरण की प्रक्रिया में भोगवादी दृष्टि का फैलाव हुआ है। सांस्कृतिक एकरूपीकरण चेतना को असमंजसता में पडने दिया है। उत्पाद्यता से चीज़ों की उपादेयता सिद्ध हो रही है।

माल और सेवाओं के उत्पादन, वितरण, विपणन, क्रय विक्रय में मीडिया और विज्ञापन की भी भारी भूमिका रहती है। कंप्यूटर, ई-मेल, नेटवर्किंग, टेलीकान्फ्रेंसिंग और द्रुत और नए सॉफ्टवेयर के प्रयोगों द्वारा दुनिया के भिन्न-भिन्न कोनों में भी विश्व बाज़ार की संरचना में प्रतियोगिता की भूमि तैयार हो जाती है और बाज़ारीकरण की प्रक्रिया तेज़ हो जाती है।

बाज़ार की वस्तुओं ने मानव की इच्छाओं का एक नया संसार बनाया है। विकास का अर्थ, सिर्फ आर्थिक क्षेत्र में सीमित होने से छोटे देशों में आत्महीनता की भावना रूढ़ हो जाती है और सांस्कृतिक विकास के अन्य पक्षों को विस्मृत करते हैं। विस्व स्तर पर आर्थिक साम्राज्य स्थापित कर डालने में विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व व्यापार संगठन आदि साम्राज्यवाद के आर्थिक उपकरण बन चुके हैं।

खुली अर्थ व्यवस्था का समकालीन परिवेश, स्वंतत्र बाज़ार की आवश्यकता को मज़बूत कराने के लिए काफी अनुकूल बन गया है। वैश्विक पूँजी की नियंत्रणकारी अंतः संरचना में शामिल होने के सिवाय छोटे-देशों के सामने और कोई रास्ता शेष नहीं बचा है।

समाज द्वारा विकास के नये-नये आयाम अपनाने के साथ ही साथ बाज़ार के मामूली रूपों में भी परिवर्तन आ गए। बाज़ार की अंतः संरचना में ही नहीं उपभोक्ता की सोच-समझ में भी आधारभूत और दूरगामी परिणामवाले बदलाव आ गये हैं।

पुनरुत्पादन शक्तिविहीन बीज़ों के निर्माण किये जाने के समान बाज़ारीकृत परिदृश्य में उत्पादनक्षमता विहीन व्यक्ति की क्रियाशीलता विकल्पों की तलाश में, अस्तित्व की खोज में, अपूर्ण और खाली, मन और जेब लेकर खडी हुई है। समाज

की शिल्प प्रविधि बाज़ारीकृत है जिनसे साक्षात्कार और नकारात्मकता से प्रतिरोध समकालीन साहित्यकार का मंशा बन गया है। भौतिक दुनिया में, बेईमानी और अराजकता के दौर में ख़तरे में पडे हुए मानव को ज़िन्दगी की ऊष्मा की ओर वापस लाने के सर्जनात्मक तरीके समकालीन रचनाकार ही ढूँढ ले सकते हैं।

संदर्भ-सूची

1. K.K. Dewett, J.D. Varma- Elementary Economic Theory, पृ.232
2. http/www.britanica.com/marketization.
3. सं. डॉ.माधव सोनटक्के, डॉ. अंबादास देशमुख- वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में भाषा और साहित्य, पृ.150
4. प्रफुल्ल कोलख्यान- बाज़ारवाद और जनतंत्र, पृ.14
5. कुमुद शर्मा- भूमण्डलीकरण और मीडिया, पृ.17
6. शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा, पृ.159
7. लीलाधर मण्डलोई - कविता के सौ बरस, पृ.414
8. शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा, पृ.157
9. विनय विश्वास - आज की कविता, पृ.264
10. सं. डॉ.माधव सोनटक्के, डॉ. अंबादास देशमुख- वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में भाषा और साहित्य, पृ.153
11. कुमार भास्कर - भूमण्डलीकरण और स्त्री, पृ.9

दूसरा अध्याय

समकालीन कविता में बाज़ारीकरण : एक पूर्व पीठिका

समय और काल के समानांतर युगीन जीवन संदर्भों को जोडनेवाले कवि, चाहे किसी भी युग के हों, समकालीन ही माने जाते हैं। बाज़ार और बाज़ारीकरण की संकल्पनाएँ भूमण्डलीकरण की उपज होकर समकालीन कविता में विविध परिदृश्यों में अभिव्यक्ति पाती हैं तो अंग्रेज़ी व्यापार और अंग्रेज़ी सभ्यता के संपर्क में आकर उनके अत्याचारों के प्रभावों की पृष्ठभूमि में पनपी आधुनिक कविता इन संकल्पनाओं से कतई भी अलग नहीं रहतीं। स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना के विशाल कैनवेस में तद्युगीन व्यापार नीतियों पर कवियों की अभिव्यक्ति भी तीख्री थी। भारतेंदुकाल से लेकर कविता में बाज़ारीकरण की प्रतिक्रिया ठीक झलकती है।

2.1 भारतेंदु युग

व्यापारी के रूप में भारत आकर क्रमशः शासक बन गए अंग्रेज़ों ने पहले भारत का व्यापार छीन लिया। भीतरी व्यापार से कंपनी के शासकों ने अत्यधिक धन कमाया और भारत को खोखला कर दिया। भारतीय जनता दिन ब दिन शोषण, कर, महँगाई का शिकार बनकर सर्वाधिक त्रासद आर्थिक हालत की ओर जा रही थी। देश को उत्पादन के क्रम में आत्मनिर्भर होने के बावजूद उपभोग की दृष्टि से पराधीनता का सामना करना पड रहा था। यहाँ के उत्पादन का उपभोक्ता बाहर का उपभोक्ता था।

नवसाम्राज्यवादी या पूँजीवादी बाज़ार की शुरूआत वहीं से ही हुई थी और उदारीकरण की भारतीय अर्थनीति भी तभी पनपने लगी थी। विदेशी व्यापार के लिए अंग्रेज़ों के सामने भारतीय शासक वर्ग ने ही अनेक द्वार खोल दिये थे और उन्हीं प्रवेश द्वारों से अंग्रेज़ भारत की संपत्ति को लूट रहे थे। भारत के सारे कुटीर उद्योग समाप्त होने लगे और विदेशों के लिए कच्चे माल के उत्पादक बाज़ार तक भारतीय

अर्थव्यवस्था की भूमिका सीमित रह गई थी। भारत के धन से अन्य यूरोपीय देश व्यापार के माध्यम से धनी हुए और अंग्रेज़ी राज्य की शोषण नीति का प्रभाव सामान्य जनता पर ही पड गया।

हिन्दुस्तानियों को परदेशी जुलाहों का गुलाम कहकर भारतेंदु ने नवीन साम्राज्यवाद की स्वार्थपरता को स्पष्ट कर दिया है। हम लोग ऐसे मूर्ख हैं कि अपना अनमोल कच्चा माल विदेश भेजकर बदले में उसी से बना हुआ माल सौ गुने अधिक दाम देकर ख़रीद लेते हैं। इन वस्तुओं के व्यवहार से हम अपनी सभ्यता आँकते हैं।

विदेशी बाज़ार की वस्तुओं के प्रति अनुराग की भावना से अभिभूत नई पीढ़ी को देख्रकर भारतीयता के नष्ट होने के प्रति जागरूक कवियों ने, विदेशी वस्तुओं तथा विदेशी सभ्यता का विरोध करते हुए स्वदेशीपन की गरिमा को उजागर करने की कोशिश की। अधिकतर भारतीय जनता विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने लग गई थी क्योंकि भारत के बाज़ार इनके उत्पादक नहीं सिर्फ उपभोक्ता बन गए थे।

विदेशी वस्तु के बहिष्कार का उद्घोष कवि बालमुकुन्द गुप्त ने इस प्रकार किया है-

> "अपना बोया आप हो ख्रावें, अपना कपडा आप बनावे
> माल विदेशी दूर भगावे, अपना चरख्रा आप चलावे
> बढे सदा अपना व्यापार, चारों दिस हो मौज बहार।"[1]

भारत की उपभोक्ता मानसिकता स्वदेश निर्मित वस्तु को निम्न स्तर समझकर मैनचेस्टर तथा लिवरपूल से सामान मँगाते है तो कवि अंबिकादत्त व्यास ने विदेशी रंग में रंगी उस मानसिकता की तीख्री आलोचना की है।

विदेश से वस्त्र मँगवाकर पहनने में अपनी प्रतिष्ठा माननेवाली पीढ़ी को देशी कपडे नीचे स्तर के प्रतीत होते है। उपनिवेश के नवतंत्रों की इस शुरूआत में स्वदेशीपन की भावना जगाना कविगण का मुख्य प्रतिरोध रहा।

औद्योगीकरण के नाम से जिस विकास का सपना दिखाया गया, उसका फायदा देश को स्वयं उठाना चाहिए था। भारतेंदु ने इस मत को स्थापित करने की कोशिश की। वैज्ञानिक तकनीकी का ठीक प्रयोग करके देश में ही कारखाने खोलकर, इधर के कच्चे माल से यहीं उत्पादन करना आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाने में सहायक सिद्ध होगा। उपनिवेश से लडने का, विदेशी बाज़ार में भारत की आर्थिक व्यवस्था के परास्त होने से बचने का यही उपाय भारतेंदु काल के कवि सूचित करते रहे। स्वदेशी व्यापार के विकास करने की ज़रूरत पर उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में बल दिया।

विदेश में भारत के धन अपहृत होकर चले जाने पर क्षुब्धता व्यक्त करके तत्कालीन कवि आर्थिक स्वाधीनता के उपाय ढूँढते रहे। भारत की आर्थिक परवशता कभी कभी इन्हें सांस्कृतिक दासता के समकक्ष हानिकारक प्रतीत होने लगा था। बाज़ारों में अंग्रेज़ी मालों का ढेर इस आर्थिक दासता का सूचक है।

भारतेंदु ने 'अंधेर नगरी' में न्यायविहीन सत्ता पर व्यंग्य करने के साथ-साथ टके सेर में हर चीज़ मिलनेवाले बाज़ार की चालाकी चमक में अपनेपन को खोये युवावर्ग की चिन्तन हीन, विवेक हीन बुद्धि पर भी करारा प्रहार किया है। हर चीज़ एक दाम में बिकनेवाला बाज़ार अपने जाल में सभी को फँसाता है और सामान्य-श्रेष्ठ, मूल्यवान-मूल्यहीन में कोई अंतर दिखाई नहीं देता है।

भारत के धन को विदेश पहूँचानेवाले शोषण तंत्र का पर्दाफाश भारतेंदु ने इस प्रकार किया है-

"हिन्दू चूरन इसका नाम
विलायत पूरन इसका काम
चूरन जब से हिंद में आया
इसका धन बल सभी घटाया।"[2]

अंग्रेज़ी शासन की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बाज़ार द्वारा जन सामान्य की लूट ही चली जाती थी और भारतेंदुयुगीन कवियों ने इसे ठीक ही पहचाने थे। वास्तव में अंग्रेज़ों की बाज़ार-व्यापार नीति यही रही कि भारत से कम दाम में कच्चा माल ले जाकर इंग्लैंड के बाज़ार को ही मोटा-समृद्ध बनाता जाना। कृषि लगानों, टैक्सों और कानून की आड में ज़मीन्दार वर्ग और अंग्रेज़ दोनों ने परंपरानुरूप गरीब जनता का ही खून चूस लिया। भारत को बाज़ार बना दिया, उपभोक्तावादी मानसिकता को जगाया और मुनाफा विदेश में ही टिका गया।

भारतेंदु और उनके सहयोगी कवियों का प्रतिरोध अंग्रेज़ों की इस शोषण बाज़ार-नीति के विरुद्ध खडा हुआ। देशवासियों के आलस्य और निष्क्रियता की आलोचना करके विदेशी वस्तु प्रचार के व्यापारी कुतंत्रों की परोक्षता को खोलकर दिखाने में भारतेंदु युगीन काव्य सफल रहा।

2.2 द्विवेदी युग

काव्य क्षेत्र में द्विवेदी युग एक ऐसी कालचेतना है, जिसके प्रदेय हिन्दी काव्य को छायावादी, प्रगतिशील, प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी, प्रतीकवादी, अभिव्यंजनावादी

और अधुनातन समस्त वादों-प्रवादों की जीवन दृष्टियाँ प्राप्त हुईं। यह द्विवेदी युग की अपनी आत्मशक्ति थी, जिसने अपने पूर्ववर्ती भारतेंदु युग की समस्त क्षेत्रों में व्याप्त भावात्मक प्रतिद्वन्द्विता को न केवल चुनौती के रूप में स्वीकार किया, बल्कि उसमें अपने युग की माँग के अनुकूल परिष्कारों का नया धार प्रदान किया। इस युग में भी काल की अनिवार्यताओं ने कविता का रूप धारण किया।

अंग्रेज़ी राज की आलोचनात्मक टिप्पणियों के रूप में तत्कालीन कविता को आँका जा सकता है। उपनिवेशवाद के प्रतिरोध में राष्ट्रीय चेतना पनप उठी और संस्कृति की रक्षा तथा विकास के रचनात्मक उपाय के रूप में काव्य सृजन किया गया।

द्विवेदीयुगीन कवियों के आर्थिक विचार भारतीय आर्थिक गुलामी के इर्द-गिर्द घूमकर भी बाज़ारीकरण के परोक्ष चेहरों को पहचानने में सफल रहे।

देशी बाज़ारों की आज़ादी को समाप्त करके पूँजी का जो केन्द्रीकरण किया जाता था उसी की ओर कवि मैथिलीशरण गुप्त जी संकेत करते हैं-

> "हाँ तब अनर्थ के बीज अर्थ बोता है,
> जब एक वर्ग में मुष्टिबद्ध होता है।
> जो संग्रह करके त्याग नहीं करता है,
> वह दस्यु लोक धन लूट-लूट धरता है।"[3]

केवल कच्चेमाल के उत्पादक तक सीमित देश की व्यापारिक स्थिति पर कवि आक्रोश भरते हैं और बताते हैं कि जब एक देश कच्चे माल के उत्पादक बना रहना चाहता है और वही विकास मानता है उसका पतन एकांत है।

अर्थ प्रधान समाज में बाज़ारीकृत संवेदनाओं के बीच नैतिक पतन सुनिश्चित है और धर्म धन में परिणत होता है। कवि याद दिलाते हैं कि मानव अपने को धन के सामने बिकाऊ माल न बना दिये-

"धन है उन्हें जन के लिए
जन है नहीं धन के लिए।"[4]

जब अंग्रेज़ यहाँ विलायती माल के बाज़ार की ओर जनता को आकर्षित कर रहे थे तब भारत का बाज़ार भूखों-नंगों का बाज़ार था। बाज़ारीकृत भारत में बाज़ार किसान-मज़दूरों की पकड के बाहर था। एक ओर महँगाई और कालाबाज़ार बढ़ रहा था तो दूसरी ओर भूखे-नंगे बच्चे मर रहे थे।

साम्राज्यवाद के विरोध में द्विवेदीयुगीन काव्य जनोन्मुखता दिखाकर संघर्ष करता रहा। ब्रिटिश सत्ता के आर्थिक-सामाजिक अंतर्विरोध का सामना करना तद्युगीन परम ज़रूरत बन गई थी। किसानों को तबाह कर देनेवाली आर्थिक नीतियों के खिलाफ, ज़मीन्दार और दलालों के हस्तक्षेप से जर्जर होती खेती-बारी की रक्षा के पक्ष में कविगण जागृत रहे। इनके संघर्ष के केन्द्र में भी हाशिए में रखी गयी निरीह मानवता रही थी।

युग की परम आकांक्षा स्वतंत्रता प्राप्ति रही और इसके अनिवार्य अंग के रूप में वे आर्थिक स्वतंत्रता को मानने लगे। तत्कालीन भारत की व्यापार नीति पर गुप्त जी ने व्यंग्य किया है-

"आती विदेशों से यहाँ सब वस्तुएँ व्यवहार की
धन-धान्य जाता है यहाँ से, यह दशा व्यापार की।"[5]

'एक' में अपनी चीज़ बेचकर उसी चीज़ को 'बीस' में ख़रीद लेने के अविवेक में हम डूब गए हैं। अंग्रेज़ों के बाज़ार तंत्र में भारतीय उपभोक्ता मूर्ख सिद्ध होते हैं। उत्पादन-विपणन की प्रक्रिया के बीच बाज़ार उन्हें फँसता है, धोख़ा देता है। 'पूँजी' का 'लूट' में परिणत हो जाने की अर्थव्यवस्था से कवि अतृप्त रहे, देशी उत्पादन और उत्पादों का सही वितरण उनकी माँग रही।

भारत की संस्कृति में लेन-देन का मतलब पहले क्या था, अब क्या रह गया है, उसका वर्तमान रूप गुप्तजी प्रस्तुत करते हैं-

"सब वस्तुएँ उपहार के ही योग्य बनती थी यहाँ
संसार में होती उन्हीं की माँग थी देखो जहाँ
तब तो अतुल वैभव रहा, त्रुटि थी न कोई आय में
सच है कि रमती है रमा वाणिज्य में, व्यवसाय में।"[6]

लेन-देन जब व्यवसाय का रूप धारण कर लेता है तो मानसिकता बाज़ारू हो जाती है। पैसे की लालसा में केवल पैसा पैसा लोगों का जीवन मंत्र बन जाता है तो गुण या भलाई को भी नगण्य मानने लगता है। इसप्रकार गुप्तजी व्यापार की मुनाफाधारिता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।

हमारे सारे मूल्य, क्रिय-कलाप केवल पण्यता की दृष्टि से नापा जाता है तो स्थिति ऐसी ही रहती है-

"निज अर्थ साधन में हमारी रह गई अब भक्ति है
है कर्म बस दासत्व में, अब सवर्ण में ही शक्ति है।"[7]

अतः बाज़ारी अर्थ व्यवस्था में अभिभूत मानवीय मूल्यों के प्रति द्विवेदी युगीन कवि भी चिंतित रहे। अर्थाधारित सामाजिक व्यवस्था की नियति को सोचकर वे घबराहट भी व्यक्त करते हैं और अपने को बिकाऊ न बना देने के लिए मानव को उकसाते भी हैं। समाजोन्मुख जीवन दृष्टि का सहारा लेकर जीवन के सकारात्मक पक्षों के विकास को प्रोत्साहित करते हैं।

2.3 छायावाद

छायावाद का युगीन संदर्भ औद्योगीकरण और पूँजीवाद से जुडा हुआ है। व्यापार के साथ राजनीतिक प्रसार की आकांक्षाओं को जोडकर अंग्रेज़ी प्रशासकीय नीति भारत के प्राचीन उद्योग-व्यापार को नष्ट कराके उसे एक बाज़ार बना देने की प्रक्रिया से जुडी हुई थी। भारत में विकसित नवीन सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप पूँजीवादी शोषण के आर्थिक-सांस्कृतिक पक्षों से अवगत होकर उसका रचनात्मक प्रतिवाद छायावादी काव्य में भी विद्यमान है।

कल्पना और सौन्दर्य में डूबकर जीवन के सामाजिक पक्ष की उपेक्षा का आरोप छायावादी कवियों पर लगाया गया जिन्हें गलत सिद्ध करनेवाली बहुत सारी कविताएँ इस युग की मिलती हैं। तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से अनुप्रेरित छायावादी कविताओं में आधुनिक युग संदर्भ की समाजवादी धारणाएँ भी शामिल हैं।

साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की उपज पूँजीवाद ने यांत्रिक सभ्यता को जन्म दिया तो जीवन के सभी स्तरों पर पूँजी का अधिनायकत्व चलता गया। बाज़ारीकरण की प्रवृत्ति को गति प्रदान करने में पूँजीवाद के हाथ को डॉ. संतोष कुमार तिवारी यों स्पष्ट करते हैं- "उन्मुक्त प्रतियोगिता और स्वतंत्र बाज़ारों की स्थापना के कारण कभी

तेज़ी कभी मंदी, एकाधिकार की भावना और उपनिवेश कायम करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से घर कर लेती है।"[8]

अर्थाश्रित समाज में मित्रता और आत्मीयता तक बिकने की स्थिति आ गई है, पैसे के अभाव में सब कुछ मूल्यहीन है, जिससे छायावादी कवि अवगत हैं। धन से प्रशंसकों को ख़रीदा जाता है और वही पूँजीवादी सभ्यता की मूल शक्ति है जिसने मानवता को एक ताक में रख़ दिया है।

"यह जीवन का मेला
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को लेकर
त्यों त्यों आत्मा की निधि पावन, बनती पत्थर
बिकती जो कोडी-मोल
यहाँ होगी किसी निर्जन में
ख़ोजो यदि हो सम-तोल"[9]

काला-बाज़ार जनसामान्य को वस्तुएँ अनुपलब्ध कराता है। कवि पहचानते हैं कि उदारीकरण के नाम पर चलनेवाला अर्थतंत्र तीसरी दुनिया के देशों पर चलानेवाला धोख़ा है।

उदार व्यापार नीतियों में पूँजीपती देश की सामाजिक-आर्थिक अतिविस्तार की कूटनीति ही छिपी हुई थी। निराला जी के शब्दों में-

"राह का लगान गैर में दिया
यानी रास्ता हमारा बन्द किया।"[10]

बाज़ार में चीज़ों की भरमार है पर आम जनता की क्रयशक्ति में कमी ही बढ़ती है। क्रयशक्ति के अभाव में उन्हें बाज़ार के बाहर करा देता है पूँजीवाद।

बिकाऊ संस्कृति की आपाधापी में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को आर्थिक लालसा में सीमित करनेवाले व्यावसायीकरण पर भी कवि व्यंग्य करते हैं। वे कहते हैं कि अभी देश में ढीला-पोली है और अख़बार व्यापारियों की ही संपत्ति रह गई है। पैसे के सामने साहित्यकार भी अपने नैतिक दायित्व भूल जाते हैं इस पर भी कवि क्षुब्ध हो जाते हैं-

"पैसे में दस राष्ट्रीय-गीत रचकर उनपर
कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ मर्दन स्वर।"[11]

बाज़ार में फँस जाने की अनिवार्यता के वर्तमान यथार्थ से कोई भी बच नहीं पाता। अच्छे आदमी होने में नहीं, सफल ख़रीददार या उपभोक्ता होने में मानव अपनी गरिमा समझते हैं। निराला जी टिप्पणी करते हैं-

"यह है बाज़ार
सौदा करते हैं सब यार
धूप बहुत तेज़ी थी, फिर भी जाना था,
सुखिया बोली अपनी सास को सुनाकर यों
मास के पैसे शायद अब तक भी बाकी हों
अच्छा है अगर करें पूरी धेली ज्यों-ज्यों
टूटा रुपया ख़र्च होते लगेगी न बार।"[12]

बाज़ार सबको आकर्षित करता है। बाज़ार व्यवस्था में पड जाना व्यक्ति की नियति बन गई है। ईस्ट इण्डिया कंपनी से विकसित होकर साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी शक्ति के रूप में परिणत होनेवाली पूँजीवादी नीति का सशक्त औजार

बन गया था बाज़ार। देश के नागरिक स्वत्व को गिरवी में रखकर या बेचकर विदेशी माल बेचनेवाले लुटेरे शहरों के सभासद बन गये हैं। छायावादी युग के कवियों ने विदेशी बाज़ार की चमक में व्यक्तित्व को खो देनेवाली युवा पीढ़ी को जागृत करने का प्रयास किया है। अर्थ लिप्सा में जब स्वार्थपरता बढ़ जाती है तो उससे अलग रहनेवाला पराजित ही हो जाता है, निराशा में डूब जाता है। 'सरोज-स्मृति' में निराला की आत्माभिव्यक्ति इस प्रकार है-

"जाना तो अर्थागमोपाय
पर रहा सदा संकुचित काय
लखकर अनर्थ-आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।"[13]

आधुनिक सभ्यता जब यांत्रिक सभ्यता में तब्दील हो जाती है, विज्ञान और बुद्धि के अतिवाद का भीषण परिणाम दिखाई देता है। जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में इस अतिभौतिकवाद के आतंकों पर दृष्टि डाली है-

"प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।"[14]

संस्कृति के बाज़ार में मानवता, आत्मसम्मान और सत्य का व्यापार हो रहा है। एक मायावी संस्कृति में सब कैद हो जाते हैं। भौतिकता की समृद्धि प्राप्त करने के लिए अपनी अस्मिता को भी गिरवी कर देता है आज का मानव। संवादहीन, मशीनीकृत आदमी एक भोगवादी पीढ़ी का नमूना बन गया है- यही तथ्य पहचानकर प्रसाद ने कहा है कि विश्व बाज़ार के इन्द्रजाल में सत्य जैसे नैतिक मूल्यों को, अपने आत्मसम्मान को हमने बेहिचक बेच दिया है।

दिखावट की शहरी सभ्यता प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा पर आधृत बन गई है। गाँवों को शहरों में परिवर्तित कर देने की प्रक्रिया को विकास के लिए ज़रूरी माना गया है तो गाँवों की निष्कपटता, स्वच्छता, स्वाभाविकता शहर की यांत्रिक ज़िन्दगी की ओर मुड जाती हैं। अपने को सभ्य और अभिजात सिद्ध करने की दौड में सबको शामिल होना पडता है। इसी विवशता का उल्लेख पंतजी ने किया है-

"भूल गये स्वाभाविक जीवन
आर्थिक स्पर्धा से पीडित मन
कृत्रिम उपकरणों से वेष्टित
रोगी वैभव भोग विलासी।"[15]

चीज़ों का भरमार मानव जीवन को दुःसह बना दिया है। जड वस्तुओं के बीच मानव अपनी चेतना को खो देता है और वस्तुकरण का शिकार बन जाता है। मानव का चाल-चलन, प्रतिक्रिया तक यंत्र-सा निश्चेष्ट और संवेदनशून्य बन गये हैं। उपभोक्ता की अभिरुचियाँ, कल्पनाएँ और भावनाएँ बाज़ार की चीज़ों को केन्द्रित रहती हैं। इस सभ्यता से मनुष्य भागना चाहता है तो भी बार-बार फँस ही जाता है- कवि सुमित्रानन्दन पंत की पंक्तियाँ हैं-

"यंत्र सभ्यता आज घोर अभिशाप बन रही
जड द्रव्यों का ढ़ेर, जोडकर उसने जग में
दबा दिया मानव को, बृहत हिमालय-सा गुरु
वस्तु-बोझ रखकर दुःसह उसकी छाती पर।"[16]

बाज़ारीकरण के उप-उत्पाद के रूप में उपजी आर्थिक विपन्नता नैतिक मूल्यों पर थूकती रहती है। विकास के नाम पर संघर्ष, संपन्नता के नाम पर नैतिक दरिद्रता

झेलना पड रहा है। एक ओर तो धन बढ़ता जाता है, नैतिकता की दृष्टि से निर्धन होता जा रहा है।

"नैतिक रीढ़विहीन रेंगता वह जीवन-मृत
बाह्य परिस्थितियों के क्रूर करों से कुंठित
प्लास्टिक के रंगीन खिलौने-सा प्रिय दर्शन
हृदयहीन वह, आत्मिक गरिमा में भी निर्धन।"[17]

विदेशी वस्तुओं के सामने, विदेशी सभ्यता के पाखण्डी तत्वों के सामने अपने को झुकानेवालों पर कवि व्यंग्य करते हैं। पूँजीवाद के फैलाव का व्यावसायिक मार्ग अपनानेवालों के प्रति नतमस्तक होना देशवासियों के लिए कदापि अच्छा नहीं होगा। अपनेपन को बिकाऊ संस्कृति की आपाधापी में खो देने के बजाय उपनिवेशवादी ताकतों का प्रतिरोध करना ही होगा नहीं तो बाज़ार में हमसे अपनी अस्मिता भी छीन जाएगी। अमरीका जैसे पश्चिमी देशों की सामाजिक अतिविस्तार की कूटनीति का नया संस्करण है उनका बाज़ार।

पश्चिम के शुष्क अनुकरण में खोकर संस्कृति से भी विच्छिन्न रहनेवाले देशवासियों के मन और धन का भरपूर शोषण करना साम्राज्यवादियों के लिए आसान है क्योंकि वे व्यावसायों के चिर अभ्यासी है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ प्रकृति और मानव का शोषण एक साथ कर रही हैं। वे इतने कुशल ढंग से अपने व्यवसाय चलाते हैं कि आम आदमी उसमें सहज ही हिस्सा बन जाता है। विकास और प्रगति के पायदानों को पार करते-करते मानवीयता खोते जाते हैं। हर कहीं सौदेबाजी के स्वर सुनाई पडते हैं।

छायावादी कवियों ने, विशेषकर पंत और निराला ने इस आदमियत को बचे जाने क तीव्र इच्छा प्रकट करके शोषण का विरोध करते हैं। अपने जीवन में बाज़ार व धन के हस्तक्षेप को सीमित करके नियंत्रण में रखने की ताकत मानव में भरने की कोशिश करते हैं। निराला जी बताते हैं-

"बानिज के राज ने लक्ष्मी को हर लिया
टापू में ले चलकर रखा और कैद किया।"[18]

संवेदनशून्य समाज में व्यावसायीकरण की प्रतिक्रिया जगाने का भरपूर प्रयास छायावादी कवियों ने किया है।

धन के नाम पर, व्यापार के नाम पर अपसंस्कृति के फैलने के विरुद्ध कवियों ने आवाज़ उठाया। समकालीन कविता में संस्कृति के बाज़ारीकरण को नकारने का जितना घोर प्रस्ताव कवियों ने प्रस्तुत किया है उसकी पृष्ठभूमि में छायावादी कवियों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण का पुनर्पाठ किया जा सकता है। उपभोगमूलक सभ्यता के विकास में सामंतवादी अर्थव्यवस्था के साथ साथ देश वासियों की अकर्मण्यता का भी बडा हाथ रहा था। प्रसाद जी के 'कामायनी' में इस प्रकार की व्यवसायीकृत सभ्यता के परिणामों को ठीक से आँका गया है। कवियों का प्रतिरोध युवा वर्ग की सही पहचान को लक्ष्य करता है।

निराला जी ने अपनी कविताओं के माध्यम से मुनाफाख्रोरी सामाजिक व्यवस्था का कटु प्रतिरोध सख्त भाषा में किया है। अपनी एक कविता में उन्होंने बताया है कि वैज्ञानिक विकास के नाम पर देश गर्व कर रहा है पर सभ्यता के प्रति एक जड समान दृष्टिकोण रखा गया है। पूरा विश्व एक होने की उत्कट इच्छा में भाग

रहा है किन्तु संस्कृति का समतलीकरण देशी सभ्यता के नष्ट होने का सूचक है। पैसे के बल पर इकट्ठे कर गये सारे वैज्ञानिक साधन, सुख-सुविधा की लालच को बढ़ाते रहेंगे और धनाकांक्षा जनता का जीवन-साध्य बन जाएगी। उपभोक्ता संस्कृति के जाल को कवि ने ठीक ही पहचाना था।

छायावादी काव्य इसी पहचान को एक न एक रूप में अभिव्यक्त किया है। भोगवाद धीरे-धीरे अकर्मण्यता की ओर ले जाने और अंत में मानव के अस्तित्वहीन होकर बाज़ार में भटकने की नियति की भविष्यवाणी इन कवियों ने दी।

2.4 प्रगतिवाद

विद्रोह, संघर्ष और प्रतिरोध के प्रगतिवादी संदर्भ में सबसे बडी माँग सामाजिक न्याय की रही है। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के पाट में पिसकर अस्तित्वहीन होनेवाले मध्यवर्ग की असमंजसपूर्ण मानसिकता का दिग्दर्शन भी प्रगतिवादी कवियों का नतीजा रहा है।

उदारीकरण के आर्थिक षड्यंत्र के बेपहचान का खतरा कवि नागार्जुन की इन पंक्तियों में ही सूचित है-

> "अपनी गर्दन आप काट लो करो प्रणति साष्टांग
> द्रवित न होंगे किंचित भी तुम पर पिशाच गौरांग।"[19]

विदेशी अर्थनीतियों के चपेट में आबद्ध होना अपना गर्दन आप ही काट लेना है। आम जनता साम्राज्यवाद के नये-चेहरे को अन्दरुनी रूप से न पहचानकर उससे समझौता करने पर अपने को उसके सामने गिरवी रखना पडता है।

समाज में व्याप्त भोगवाद-औद्योगीकरण के तहत जागृत हुई व्यापार भावना ने मानव-मानव को प्रतिद्वन्द्वी बनाकर, आपसी संबंधों को मात्र आर्थिक संबंध के नज़रिए से नगण्य बना दिया। अपने को बेचकर अस्तित्व की स्थापना करने की विरोधाभासी विवशता को झेलनेवाला है आधुनिक आदमी। नई आर्थिक नीति शनैः शनैः लोगों की रोजी-रोटी छीन लेती है और आर्थिक पराधीनता के पुर्ज में मानवीयता लुप्त हो जाती है। मानवीय संबंध भी इस बेहाल का शिकार हो जाता है। जैसे नागार्जुन आवाज़ देते हैं-

"बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल होकर
धर्म, धीरज, प्राण खोकर
हो रही अनरीति बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है
बाप बेटा बेचता है।"[20]

धन का एकाधिपत्य जीवन को कुरेदकर विस्तार कर पाता है और सब कुछ पण्य हो जाता है। कवि त्रिलोचन पहचानते हैं-

"यह गलत है कि
पैसा हाथ का मैल हो गया है
सच यह है
कि आदमी पैसे का रखैल हो गया है
गधा
चरने लगा है कुर्सियाँ
और सींग लगाकर बैल हो गया है।"[21]

प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता पर संसार की गतिशीलता निर्भर हो जाती है तो आदमी की वैचारिकता भी उपभोक्तावाद की ओर मुड जाती है। त्रिलोचन की उपरोक्त पंक्तियों में सत्तासीन अनैतिकता का पर्दाफाश किया है। पैसे के बल पर राजनीति, तद्वारा शासन पर आसीन निष्क्रिय लोभ-वासना देश को बस व्यापार केन्द्र में तब्दील कर रहा है। प्रतियोगिता बढ़ाना बाज़ार का धर्म है, यह उसकी विजय का सूचकांक है। क्रयशक्ति बढ़ाने और बाज़ार में अपने प्रताप-क्षेत्र का विस्तार करने के लिए मानव को उत्सुक बनाती घिनौनी साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने लाभांक गिनकर समाज में प्रतिद्वन्द्विता को प्रोत्साहित करती रहेंगी।

पूँजीबाज़ार की बढ़ती हुई शक्ति के साथ साम्राज्यवाद का भी भोल-भाला मिलकर किसानों और खेती की तबाही का सारा सामान एकत्र कर देते हैं। विश्व बाज़ार की प्रतियोगिता के सामने खेती को सिर झुकना पडता है। कवि की आशंका है कि 'मकबूल फिदा हुसैन की चौंकाऊ या बाज़ारू टेकनीक' हमारी खेती को, किसानों को चौपट कर देगी। बाज़ारू बीजों के उत्पादन में पराजित होने से खेती में काट-छाँट करके उसे परास्त सिद्ध कर सकते हैं। नव पूँजीवाद इस टेकनीक का सिद्धहस्त है।

शहरीकरण की प्रक्रिया की बढ़ती गति ने मशीनीकृत सभ्यता का साथ पकड़ा है और आदमियत को संस्कृति की परिभाषाओं से बहिष्कृत कर डालने की आदत को बढ़ावा दिया है। विकास का मतलब आर्थिक विकास है, पूँजी के साम्राज्य का विकास है। आदमी-आदमी को पहचानते नहीं, रिश्तों-संबंधों से भाग जाते हैं। संबंधों में यह दरार पहले शहरों में अपने पद चिह्न लगाने लगी थी। मनुष्य का विकास मनुष्यता के अधःपतन में परिणत होता है तो कवि चुप नहीं रह सकते। कवि त्रिलोचन को अफसोस है-

"शहरों में आदमी को आदमी नहीं चीन्हता
पुरानी पहचान भी बासी होकर
बरसाती है
आदमी को आदमी गंध बुरी लगती है
इतना ही विकास मनुष्यता का अब हुआ है।"[22]

उदारीकरण और निजीकरण के नामों पर भारतीय नेता पूँजी के सामने पहले भी झुक गये थे और आज बिक रहे हैं। उपनिवेश के आधुनिक मार्ग ढूँढते साम्राज्यवाद को वैश्वीकरण की प्रक्रिया का प्रश्रय भी मिला। असल में विश्व बैंक में देश के टुकडे-टुकडे को गिरवी में रख दिया जाता है। नेताओं द्वारा देश की राजनीति और अर्थनीति बाज़ार मे एकसमान बनायी गई। केदारनाथ अग्रवाल इस कूटतंत्र पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं-

"लंदन में बिक गया नेता हाथ कटाकर आया
एटली बेविन अंग्रेज़ों में खोया और बिलाया
भारत माँ का पूत सिपाही पर घर में शरमाया
अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का उसने डिनर उडाया
अर्थनीति में राजनीति में गहरा गोता गया
जनवादी भारत का उसने सब कुछ वहाँ गँवाया।"[23]

उदारीकरण की तानाशाही में सब कुछ गँवाकर आर्थिक गुलामी में राष्ट्र पिस रहा है। मुक्त व्यापार के सुन्दर रास्तों से विदेशी पूँजी का उन्मुक्त प्रवाह हो रहा है और देश में नवपूँजीवादी बाज़ार खुल जाते हैं।

उपनिवेशी शोषण और साम्राज्यवादी ताकतों से टक्कर लेने और मानवतावादी मूल्यों की स्थापना का उद्देश्य लेकर प्रगतिवादी काव्य की रचना हुई थी। साहित्य की सामाजिक उपयोगिता और उपादेयता तत्कालीन कविता का ध्येय रहा। पूँजीवादी सभ्यता ने कमोबेश मात्रा में मानव जीवन को अर्थाधारित बना दिया तो जागृत कवि बाज़ार की नियंत्रण नीति से अवगत रहते हैं। बाज़ार में उपभोक्ता पटाने का माया जाल बिछा हुआ है और असुन्दर और विकृत को भी सुन्दर की प्रतीति में आच्छादित करने का विपणन तंत्र बाज़ार जानता है। कवि कहते हैं कि बाज़ार की आँखों से देखने पर काला भी गोरा लगता है। पूरे जीवन की ठेकेदारी अब बाज़ार के हाथों ने ले ली है और सत्य-अहिंसा तक उसके व्यापार में समाया हुआ है।

घर बाहर आम-आदमी को लूटनेवाला शोषण तंत्र फैला हुआ है जिसके चक्कर से बचना एकदम असंभव बन गया है। शिवमंगल सिंह सुमन ने 'प्रलय-सृजन' में इसी तथ्य को उजागर किया है-

> "पूँजीवाद युग ने साजा
> है कुछ ऐसा साज
> घर-बाहर सब जगह लुटेरे
> का दिखता है राज।"[24]

पूँजीवाद के शोषण से मुक्ति का नारा लगाकर साहित्य में उभरे हुए प्रगतिवाद ने समय के आर्थिक पक्ष पर, उसी के माध्यम से सांस्कृतिक पक्ष पर व्याप्त असमानता को तोडने का भरपूर प्रयास किया है।

अतः प्रगतिवादी कवियों ने तथाकथित बाज़ारीकरण के पदचापों को विभिन्न दृष्टिकोणों से पहचाना था। शोषक-शोषितों में जग का विभाजन हो जाता है और

बीच में फँसे हुए मानव जीवन बिकाऊ ही बन जाता है, यही समझ फैलाने की कोशिश उन्होंने की है। भूख्रा और गरीब आदमी भी ख्ररीदारी की शौक दिख्राने में व्यस्त हो जाता है। इस परिवेश में कवि का सजग होना अनिवार्य ही बन जाता है।

2.5 प्रयोगवाद और नई कविता

काव्य की अन्तर्वस्तु में नये मोड लाने के लिए राहों के अन्वेषी प्रयोगवादी कवियों ने भाव-बोधों, मूल्यों, रूपगत तेवरों पर नये-नये प्रयोग उद्घाटित किये। संपूर्ण रचना-प्रक्रिया में, सोच-विचार में बार-बार प्रयोग करके मैले हो गए चिन्तन बिंदुओं को नयेपन से प्रतिस्थापित करने की तीव्र इच्छा का परिणाम प्रयोगवाद और क्रमानुगत ढंग से नई कविता में निकलता है।

स्वतंत्रता पूर्व-पश्चात की सामयिक गतिविधियों और उनके सामाजिक-वैयक्तिक प्रभावों-परिणामों पर प्रयोगवादी-नये कवियों की दृष्टि विचरती है और विशेष रूप से शोषक पूँजीपति वर्ग के षड्यंत्रों के भोक्ता मध्यवर्ग की ज़िन्दगी पर केन्द्रित भी रहती है। आत्मसंघर्ष की अभिव्यक्ति के बीचों-बीच सामयिक जीवन संदर्भ भी ख्रुलकर आता है। डॉ.रामकली सराफ का वक्तव्य है "नई कविता के आधुनिकतावादी कवियों ने मध्यवर्गीय व्यक्ति मन के सूक्ष्म सौन्दर्यबोध को वैयक्तिक धरातल पर अभिव्यक्ति दी पर यह वैयक्तिक भावबोध प्रयोगवाद से भिन्न नई विसंगतिपूर्ण स्थितियों, समस्याओं और मानवीय व्यक्तित्व को कुण्ठित कर देनेवाली स्थितियों के सामने विवश और पराजित होकर समर्पण नहीं करता।"[25]

तद्युगीन कविताई स्वीकृति और निषेध के द्वन्द्वात्मक क्रियाव्यापारों से गुज़रकर नयेपन को तलाशती है। कवि समय की पहचान करते हैं, उसका विरोध करता है,

कभी-कभी उससे समझौता करता है, प्रतिरोध खडा करता है और प्रतिवाद भी करता है। अनास्था, कुण्ठा, संशय, तनाव ग्रस्त मानसिकता से उभरकर, जनवादी चिन्तन की प्रतिबद्धता लेकर, अतिबौद्धिकता के वक्ता से ऊपर उठकर कवि मुक्तिबोध आत्मसजग चिंता को समाज से जोड देने की कोशिश करते हैं-

"शोषण की सभ्यता के नियमों के अनुसार
बनी हुई संस्कृति के तिलिस्मी
सियाह चक्रव्यूहों में
फँसे हुए प्राण सब मुझे याद आते हैं।"[26]

इधर कवि संस्कृति की शोषणनीति में फँसे हुए मानव की नियति का पटाक्षेप करते हैं। कवि का नतीजा यह है कि आम आदमी के चारों ओर शोषण की बाज़ारनीति फैली हुई है उसके चकाचौंध में समाज अंधा हो गया है और उस चक्रव्यूह को भेदना वर्तमान समय में एकदम असंभव ही रह गया है।

वर्तमान सभ्यता को कवि औद्योगिक सभ्यता मानते हैं। औद्योगिक सभ्यता का तात्पर्य यांत्रिक सभ्यता से है, जिसमें मनुष्य को सिर्फ एक पुर्जे के रूप में देखा जाता है, उससे बढकर आदमियत का कोई महत्व नहीं रह जाता है। यूरोपीय सभ्यता की अंधानुकरण की वृत्ति, विलासी दृष्टि और विकृत मूल्यों की अर्थहीनता और नागरी संस्कृति का खोखलेपन मुक्तिबोध की 'मुझे याद आते हैं' कविता में वाणी पाते हैं-

"पाउडर में सफेद और गुलाबी
छिपे बडे-बडे चेचक के दाग मुझे दिखते हैं
सभ्यता के चेहरे पर
संस्कृति के सुवसित आधुनिकतम वस्त्रों के

अंदर की वासी वह

नग्न, अतिबर्बर देह

सूखा हुआ रोगीला पंजर मुझे दीखता है।"[27]

साज-धाज और दिखावट जिस तरह चीज़ों की आकर्षक शक्ति बढ़ाते हैं और मानव को अपनी ओर खींच लेते हैं उसी के पीछे के विकृत चेहरे को बहुत कम लोग ही पहचान लेते हैं। आज के दौर में ऐसी एक गलत धारणा का फैलाव मीडिया और विज्ञापनों के द्वारा खूब किया जाता है कि जो सुन्दर दीखता वही अच्छा है। यह धारणा मानव के सौन्दर्यबोध को भी आयातित करने की प्रवृत्ति की ओर ले जाता है। सक्सेना की कविता 'सौन्दर्यबोध' इसी को व्यंजित करती है-

"आज की दुनिया में

विवशता, भूख, मृत्यु

सब सजाने के बाद ही

पहचानी जा सकती है,

बिना आकर्षण की दूकानें टूट जाती हैं।"[28]

आज समाज आर्थिक कीली पर निर्भर होकर सृजित हो जाता है तो कृत्रिम दुनिया में, विज्ञापनों की आड में आदमियत और मानव का अस्तित्व संकटग्रस्त हो गये हैं- 'पोस्टर और आदमी' में सक्सेना जी इसी ओर ही संकेत देते हैं। वे बताते हैं कि आजकल आदमी से ज़्यादा लोग पोस्टरों को महत्व देते हैं और पोस्टरों को पहचानते हैं। वे इसी दिखावट को आदमी से बडे सत्य मानने लगते हैं। अतः लोग अनुकरण को सच्चाई समझते हैं।

झूठों को सच साबित कर देने की ज़ोरदार प्रक्रियाओं के बीचों बीच सत्य कहीं खो जाता है। मुनाफाखोरी प्रवृत्ति पर आधृत व्यवसायों में ईमानदारी का नाम तक नहीं उठता। 'शुभ-लाभ' अब 'लाभ-शुभ' में बदल चुका है- मुक्तिबोध का वक्तव्य है-

"किन्तु युग बदला व आया कीर्ति-व्यवसायी
लाभकारी कार्य में से धन
व धन में से हृदय-मन
और धन अभिभूत अंतःकरण में से
सत्य की झाई
निरंतर झिलझिलाती थी।"[29]

बाज़ार में उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक निर्णायक शक्ति के रूप में दलाली रहती है। अपनी परोक्ष उपस्थिति को न पहचाने देने में वह समर्थ भी रहती है। इसी कुतंत्र से जब किसान वर्ग और उपभोक्ता वर्ग अपरिचित रहते बाज़ार उन दोनों को धोखा देता रहेगा। इन्हीं के प्रति कवि केदारनाथ सिंह 'एक छोटा-सा अनुरोध' रखते हैं। जो लोग बाज़ार जा रहे है वे अपने और उत्पाद के बीच के अन्तराल को लूटनेवालों से बचने की सही आदत सीखें। शोषण से बचने के लिए खेती के सीधे संपर्क में आ जाएँ।

उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के लिए यही लाभदायक रहेगा कि बाज़ार उनके बीच में न आने दें। विषैले पदार्थों को बाज़ार से खरीद लेने के बज़ाय खेती की ओर मुडना आम आदमी की जेब और स्वास्थ्य के लिए अच्छा है।

मानवीय व्यवस्था में बाज़ार ने घुन लगाया है और इस भयावह माहौल में आम आदमी का कर्तव्य यह बन गया है कि वह ऐसे घोषित करने की धीरज दिखाए कि स्वयं बिकाऊ नहीं है। धर्मवीर भारती की तल्ख़ टिप्पणी है-

"चैक बुक हो पीली या लाल
दाम सिक्के हो या शोहरत
कह दो उनसे
जो ख़रीदने आये हो तुम्हें
हर भूख़ा आदमी
बिकाऊ नहीं होता है।"[30]

बाज़ार ने एक 'ब्रांड संस्कृति' का विकास कर दिया है और उपभोक्ता 'ब्रांड बोथर्ड' हो गया है। परिणाम यह निकला कि चीज़ों की महानता उनकी कीमत पर आधारित हो गई है। ब्रांडेड उत्पादों के उपभोग को प्रतिष्ठासूचक माना जाता है। आज का आदमी अपना समय शॉपिंग में लगा देने में काफी ख़ुशी महसूस करता है। प्रभा खेतान का वक्तव्य इधर सही निकलता है-"उपभोक्ता के लिए दूकान एक तीर्थ-स्थली है। शॉपिंग मॉल उसका मक्का मदीना है, उसका गिरजाघर है। जहाँ उसके लिए दिन प्रतिदिन और अधिक तकनीक प्रधान महंगी कला के रत्नों से जडित स्थान ख़ोजे जा रहे है।"[31]

उपभोक्तावाद की आधारशिला यों स्थापित की जाती है कि समसामयिक पहचान की चाह भर दी जाती है। अन्य लोगों को आप कैसे दिख रहे है- यही सोच भी निरंतर जागृत की जाती है। कवि शमशेर बहादूर सिंह इसे बख़ूबी समझते हैं-

"बडी से बडी कृति यहाँ या तो
कोई बडा ही कीमती इश्तहार है
आदमी कोई आधुनिक बाज़ार है।"[32]

अर्थ लिप्सा ने हमारी सारी सांस्कृतिक मान्यताओं का चकनाचूर कर दिया है। हमारी दृष्टि को सीमित, चेतना को मूर्ख, प्रतिवाद को बौना कर दिया है, प्रतिरोध को दबा दिया है। समाज का चिन्तन विखंडित होकर 'स्व' तक सीमित रह गया है।

'साक्षी रहे वर्तमान' में गिरिजाकुमार माथुर इसी संकीर्णता को रेखांकित करते हैं-

"सिर्फ अपने ही लिए जब जीने लगते हैं आदमी
तब उनकी हर चीज़ बिकाऊ हो जाती है
जब जोखिम उठाने की आदत मर जाती है
हर कौम मर जाती है।"[33]

आज सिक्कों पर बिके जानेवाले मूल्यों-पहचानों को कवि भारत भूषण अग्रवाल ने व्यंग्य की धार देकर पेश किया है 'ओ अप्रस्तुत मन' कविता में।

नवउपनिवेशवाद में सारी मानव संवेदनाएँ क्षरित होती जा रही हैं। हमारे हृद्स्पन्दनों को भी नापा-तुलाकर अर्थ तक सीमित कर देने में समकालीन व्यवस्था सफल हुई है। जीवन की सारी खुशियाँ शॉपिंग मॉल की दिखावट में पाकर आदमी संतुष्ट हो जाता है। एक घातक सामाजिक संरचना हो जाती है कि बनावटी रिश्तों से भरा घर भी एक दूकान बन गया है। प्रभाकर माचवे की पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं-

"यहाँ आज सब कुछ है बिकता
हृदय और ईमान देवता

सब ममता की यहाँ दिखावट
शून्य खोखली और दिखावट।"[34]

मूल्यगत पराभव, महत्वाकांक्षा का बढ़ाव उदारीकृत व्यवस्था के साथी बनकर मानव को स्वार्थी बना देते हैं और अपने को सबसे सफल उपभोक्ता सिद्ध करने में आदमी के हर व्यवहार शामिल हो जाते हैं। एक ओर हमारे घर को चीज़ों का गोदाम बना देने के टेकनीक चल रहे हैं और दूसरी ओर उपभोक्ता की चयन आज़ादी को भी दबा रहा है। भवानी प्रसाद मिश्र इसका उल्लेख यों करते हैं-

"कोशिश की जा रही है
हमें वस्तुएँ थमाने की
बनाते हुए हमें
कोरे उपभोक्ता।"[35]

गुलामी की नई-नई परिभाषाएँ वर्तमान में रचती जा रही हैं जिनका मूल आधार धन है। क्रय-विक्रय की दुनिया ने साधारण जन को सभ्यता से अलग होने की ओर सुझाया है। भोगवाद के प्रसार से हम अर्ध-सभ्य बन गए हैं। चुप्पी और खामोशी को साधते उपभोक्ता अभिव्यक्ति विहीन कठपुतली बन गया है, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का गुलाम बन गया हैं।

आर्थिक क्षेत्र में कृत्रिम अव्यवस्था का सृजन करके भूखमरी का भी लाभ उठानेवाले काले बाज़ार पर शमशेर जी चोट करते हैं-

"भूख
अनाज

मुनाफाख़ोर
बिल्कुल छिपा सा
निर्जन में
अंधेरा बाज़ार हैं।"[36]

पूँजी की नई विकासयात्रा को नये कवियों ने पहचाना था और गिरिजाकुमार माथुर की पंक्तियों में इस धारणा की सूचना है-

"फिर नई शक्ति का यंत्र उठा
उद्योग और व्यापारों का फैला संसार
पूँजी की कंचल बेल बढ़ी
देशों की सीमाएँ सिमटीं
आरंभ हो गई नई दौड बाज़ारों की।"[37]

वैश्वीकरण के चलते देश में बाज़ारीकरण का दौर आया है। देश की व्यापार सीमाएँ ख़ोल दी गई हैं और समृद्धि को एक छोटे दायरे में-अर्थ में-समेट दिया गया है। यह देश की विपन्न दशा है कि व्यापार उसका एकमात्र आधार बन गया है जिसमें बाहरी तत्व प्रधान है, भीतर की गुणवत्ता अप्रधान है।

सक्सेना की पंक्तियाँ इसी दशा का रेख़ांकन करती हैं-

"भीतर कौन देख़ता है
बाहर रहो चिकने
यह मत भूलो
यह बाज़ार है
सभी आए हैं बिकने।"[38]

औद्योगिक विकास और धन संपदा का वादा देकर बहुनिगमों द्वारा व्यावसायीकरण का समर्थन किया जाता है और विज्ञापन उनका सशक्त हथियार बन गया है। उपभोक्ता पटाने के सारे तंत्र विज्ञापनों में शामिल किया जाता है और उसकी प्रमाणिकता भी बडे ही विश्वसनीय ढंग से सिद्ध की जाती है। विज्ञापन शोषकों के लिए बहाना बन गया है, उद्योग और प्रगति की बात करके जनता को चुप करने का तरीका बन गया है। वैश्विक संस्कृति के अनुरूप चलने के लिए मज़बूर देशी संस्कृति की परेशानियों को प्रयोगवादी-नये कवियों ने ठीक से रेखांकित किया है। आदमी और आदमियता की समझ बनाये रखने का जो प्रयास इन कवियों द्वारा किया गया वह ग्लोबल संस्कृति की सही पहचान का प्रमाण है। नयी कविता के भाव और प्रयोग कभी भी मशीनीकृत सभ्यता के पोषक नहीं रहे। भौतिकता की प्रतिस्पर्धा में, अंधी प्रतियोगिता में हम अपनी निजता और अस्तित्व खोते जा रहे हैं। निराशा और अतृप्ति से भरा वातावरण साम्राज्यवादी आकांक्षाओं का कुपरिणाम है। कवि की दुनिया तथाकथित बाज़ारीकृत दुनिया नहीं है, वह लोक है जहाँ मानवता सबसे ऊपर हो। कवि शमशेर का आह्वान है-

"संकुचित से संकुचित होते जाने के बजाए
आओ
हम आज फिर
फैलकर वही
दुनिया हो जाएँ।"[39]

नई कविता के बाद अस्तित्व में आए अनेक काव्यान्दोलनों को अपनी सामाजिक उपादेयता सिद्ध करने की रचनात्मक ताकत के आधार पर समकालीन

कविता की दुर्बल पृष्ठभूमि माना जा सकता है। अकविता, निषेध कविता, युयुत्सावादी कविता, सहज कविता, जनवादी कविता जैसे नामों से अभिहित काव्य परिदृश्य समकालीन कविता के पूर्वपक्ष के छोटे निशान रहे।

बाज़ारीकरण के परिप्रेक्ष्य में कविता के प्रतिरोध पर चर्चा करते वक्त समकालीनता में वह एक उत्कट सामाजिक-सांस्कृति-दृष्टिकोण माँगता है।

2.6 समकालीनता की अवधारणा

सामान्य दृष्टि से 'समकालीनता' वर्तमान समय को संबोधित एवं संदर्भित करनेवाला एक शब्द है। तत्कालीन समय, परिवेश और वस्तुस्थिति से सापेक्ष रहना समकालीनता का एक पक्ष है। समकालीन जीवन परिवेश और उन्मुक्त विचारों के प्रति संसक्ति होना एक दृष्टि से 'समकालीनता' है। वह एक युगीन धर्म है, काल का अनुगमन करना नहीं उसके साथ चलना नहीं, उसे पहचानना है कभी कभी उसका उल्लंघन भी है। विभिन्न विद्वानों के मतों में काल की तात्कालिकता को तोडना और अपनी कालचेतना को मानवीय इतिहास और संवेदों के साथ जोडना, उस सरोकार को विभिन्न संदर्भों में पहचानना समकालीनता की सरल परिभाषा हो सकती है।

आधुनिकता की एक पुनर्व्याख्या या विकास समकालीनता में देख्र सकते हैं। यह अपने युगबोध, इतिहास बोध और समसामयिक चेतना से जुडे रहने का गहन भावबोध है। काल की मूल्यदृष्टि और विचारपद्धति से 'समकालीनता' रूपायित होती है। कवि रघुवीर सहाय समकालीनता को व्याख्यायित करते हैं कि समकालीनता मानव भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है।

'समकालीनता' शब्द समय की गतिशीलता से भी जुडा हुआ है। अतः समकालीनता काल की गतिहीनता और सख्तपन को तोडनेवाली गतिमान प्रक्रिया

और चेतना का नाम है। बदलते समय और समाज का सामाना करना समकालीनता है, यथार्थ को परिभाषित करना समकालीनता है और समय की सच्चाई में जीवन को विकल्प के रूप में चुनना समकालीनता है।

अतः समकालीनता की एक संपूर्ण व्याख्या समय ही कर सकता है। यह अपने देश, काल, इतिहास और विचारदृष्टि से सापेक्षता माँगनेवाली अवधारणा है। समय की पहचान इसका अनिवार्य तत्व है। समय के व्यापक परिप्रेक्ष्य में वर्तमान की बहुआयामी समझ का होना, वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं का सामाजिक रूप से साक्षात्कार करना, व्यापक जन समुदाय की आशा आकांक्षाओं के प्रति दायित्व और प्रतिबद्धता महसूस करना समकालीन बनना है।

2.7 समकालीन कविता

कविता के संदर्भ में 'समकालीन' शब्द नयी कविता के बाद इतिहास के साथ जोडा गया है। उसके बाद कविता के वर्तमान को पारिभाषित करने का सामर्थ्य 'समकालीनता' अपने में ली हुई है। समसामयिक परिवेश में 'समकालीन कविता' किसी विचारधारात्मक शाब्दिक अपव्यय के रूप में नहीं बल्कि समय और समाज की संवाहिका के रूप में अपनी प्रस्तुति करती है, अपनी निरंतरता में गतिशील एक कालचेतना से जुडी हुई है। समय की सबसे जटिलतर अंतर्दशाओं और परिकल्पनाओं से रूपायित एक जीवन दर्शन समकालीन कविता के केन्द्र में रहता है। काल की संभावनाओं से गुज़रकर समकालीन अपसंस्कृति में कविता एक प्रति-संस्कृति की रचना करती है। उससे ऊर्जा पाकर शब्दों द्वारा, विकल्प के रूप में एक प्रतिसंसार की रचना कविता की समकालीनता है। युगीन चेतना और यथार्थगत संदर्भों से सीधी मुलाकात करके कविता काल की एक सृजनात्मक अवधारणा बन गई है।

डॉ.विश्वंभरनाथ उपाध्याय के शब्दों में "आज की कविता में काल अपने गत्यात्मक रूप में है, ठहरे हुए क्षण या क्षणांश के रूप में नहीं। यह 'काल-क्षण' की कविता नहीं काल प्रवाह की, आघात और विस्फोट की कविता है।"[40]

कविता का समकालीन होना उसकी चिन्तन पद्धति की व्यापकता को सूचित करता है। नव उपनिवेशवादी दौर में मानवीयता और संस्कृति की रक्षा करना कविता की समकालीनता बनती है। समकालीन कविता के प्रारंभ में रघुवीर सहाय से लेकर आज तक के कवि भाषा एवं भाव संबंधी पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अपनी जनपक्षधारिता साधते हैं। नये शोषणतंत्र का मुकाबला कर रहे हैं, जीवित होने के एहसास के लिए अभिव्यक्त हो रहे हैं।

समकालीन कविता को प्रत्यय विशेष से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। समकालीन काव्य प्रवृत्तियों में सत्ता के शोषणा तंत्र का विरोध, मानवीयता और अभिव्यक्ति की आज़ादी की रक्षा, बाज़ारीकरण के उभरते हुए नव सिद्धान्तों का उल्लंघन, पर्यावरण और स्त्री बाज़ार की बढ़ती माँग का विरोध आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। साठ के बाद की कविता इन प्रवृत्ति विशेषों से सीमित न रहकर भी इनके विस्तार में शब्द रचना करती है।

2.8 साठोत्तरी कविता- नब्बे तक

आज़ादी के बाद देश में उभरी तीव्र मोहभंग की भावना, आपातकालीन विसंगतियों आदि से गुज़रकर कविता अपनी गत्यात्मकता और इतिहास सजगता को सिद्ध करती हुई, वर्तमान और युगबोध से गहराई में संलग्न होकर समकालीनता के ढांचे में उभर आई। नई कविता को समकालीन कविता का पूर्वपक्ष कहा जा सकता

है। समकालीन कविता वादों की संकुचितता से मुक्ति चाहकर अपने व्यापक धरातल पर अन्तर्वस्तु की पहचान देती रही। अतः कविता का मुख्य स्वर वर्तमान अमानवीयता के बीचों बीच तरसनेवाली साधारण जनता की अस्मिता में मानवीयता की खोज रहा। शासक गण जब पूँजीवादी सत्ता के पोषक बनकर एक खतरनाक सभ्यता में सबको फँसाने लगे तो समकालीन कवियों की प्रतिपक्षधर्मी रुख प्रकट होती है। अर्थाधारिता के समकालीन परिवेश पर डॉ.पशुपतिनाथ उपाध्याय की टिप्पणी है- "अर्थ तंत्र समस्त तंत्रों को आज मात दे चुका है। जीवन में तीन एषणा प्रधानतः गिनी जाती हैं जिसमें पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा हैं। अद्यतन परिवेश में वित्तेषणा सर्वाधिक प्रचलन में है तथा भौतिकवादी प्रवृत्ति जनमानस को आन्दोलित किए हुए है।"[41] अर्थ जीवन का पर्याय बन गया है और बाज़ार समाज की रीढ़ की हड्डी बन गया है। समकालीन कवियों ने दावा किया है कि वे पूँजीवादी शोषण के समर्थन में खडे नहीं होंगे।

"एशिया का जागरण' नामक कविता में गिरिजाकुमार माथुर ने यों व्यक्त किया है कि समकालीन परिस्थिति में सत्ताधारियों का राज है, उसके शोषणतंत्र की अपरिहार्यता व्याप्त है-

"मेरी मानवता पर रखा
गिरि-सा सत्ता का सिंहासन
मेरी आत्मा पर बैठा है
विषधर-सा सामन्ती शासन।"[42]

आज के ज़माने में बाज़ार का बोलबाला है। मानव असुरक्षित, असहाय और गुलाम है। व्यावसायिकता के बढ़ते-बढ़ते मनुजता खतम हो चुकी है। मुनाफे की

राजनीति में प्रतियोगिता बढ़ गई है, सभ्यता मूल्यहीन बन गई है, आदमी का सम्मान मिट गया है और मानवीयता का गरिमा गान समाप्त हो गया है। सभ्यता स्वार्थता और लालच में रूपान्तरित हो चुकी है। प्रतियोगिता और युद्ध बाज़ार की अनिवार्यता बन गई हैं।

जीवन के आर्थिक-वाणिज्यिक पक्ष प्रबल हो गये हैं और सांस्कृतिक पक्ष इनके आधार पर निर्धारित किया जाता है। उपभोक्ता समाज में भोग के साधनों के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन होता है। भोग-विलास की प्यास व्यक्ति को एक कुचक्र में पटकती है। वस्तुप्रियता के आगे सब संबंध तथा सांचे टूट जाते हैं। महत्वाकांक्षा और उपभोग की दुनिया में मग्न होने-से मानव मूल्य उलट-पलट जाते हैं। भूमण्डलीकरण के नाम पर यूरोप की सभ्यता को तीसरी दुनिया के देशों पर थोपा जा रहा है। यह तो एक तरह की हत्या की संस्कृति है- मूल्यों की हत्या की, मानवीयता की हत्या की...। रघुवीर सहाय की पंक्तियाँ हैं-

"प्रकृति कठोर है आदमी हिंसक है
यही है यूरोप का रहस्य
सभ्यता मेज़ों पर गोश्त ही गोश्त है
और छुरी काँटे में नम्रता।"[43]

वर्तमान चुनौतियों के मूल में व्यापारियों और पूँजीपतियों के रचित कृत्रिम माहौल है। हमारी सोच और चिन्तन पर वार करने की शक्ति बाज़ार ने हासिल कर दी है। महँगाई, बेरोजगारी, काला-बाज़ार इसी दमन वृत्ति के ही उपक्रम हैं। बाज़ार की चाल को कवि समझते हैं-

"लोगों की सुविधा के लिए
बनिया सच्चाई है

यह महँगाई है
जिसने बाज़ार को चमका दिया है।"[44]

धूमिल ने अपनी उपरोक्त पंक्तियों में विज्ञापनों के ब्रह्मास्त्रों द्वारा, बडी-बडी कीमतवाली चीज़ों द्वारा अलंकृत बाज़ार की चमक के पीछे छिपे हुए लूटदार स्वरूप को व्यक्त करने की कोशिश की है। कवियों का दुःख इस बात पर ज़्यादा है कि बाज़ारतंत्र में पिसनेवाली जनता शोषण तरीके को जानकर भी बेपहचान ही रहती है। बलदेव वंशी ने बताया है कि युग भर में बुराई और अनैतिकता बढ़ने से नहीं इनकी पहचान मर जाने से ही समय और सभ्यता पर बहुत बडा खतरा पड सकता है।

उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक ऐसा वर्ग अस्तित्व में आया है जिसकी साजिशों से बाज़ार में शोषण बढ़ गया है। उनका लक्ष्य हमारी भाषा सहित सारे प्रतिरोधों को छीन लेकर हमें बौना करना है। 'रोटी और संसद' में धूमिल इस बात पर व्यंग्य करते हैं-

"एक आदमी रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है।"[45]

व्यापारी व्यवस्था पर आधृत समाज में सारे लोग व्यावहारिक बन गए है। बाज़ार के नियमों के अनुसार चलना उनकी आदत बन गई है। रघुवीर सहाय इस यांत्रिकता पर चोट करके बताते हैं कि लोग अब पहले से ज़्यादा व्यावहारिक बन गये है ऊलजलूल बोलने में वे रुचि नहीं दिखाते। एक मुनाफाखोर सभ्यता में अब मज़ाक

की जगह नहीं रह गई है। बाज़ारानुकूल चाल-चलन में बदलाव करने की आज़ादी बाज़ार नहीं देता है, वह व्यापारी व्यवस्था के नियमों के ख़िलाफ है। रिश्तों-संबंधों को बनाये रखना, अपना जीवन अपनी इच्छानुसार जीना आदमी के लिए दुष्कर बन गया है। कवि याद दिलाते हैं कि आज का मनोरंजन भी नफरत से पैदा हुआ है।

उदारीकरण की नीतियों के आधार पर अमरीका जैसे पूँजीपति देशों द्वारा खुले बाज़ार की स्थापना की गई जिसमें किसानों के सरल प्रवेश और ख़रीद-बिक्री का बाहरी वादा दिया गया। लेकिन धीरे धीरे यह खोखला ही सिद्ध हुआ। सुख-सुविधा की लालच बढ़ाकर सस्ते दाम का लुभावना देकर उन्होंने ऐसी एक बाज़ार व्यवस्था तैयार कर दी कि दाम का सस्तापन असल में उत्पादकों के लिए है उपभोक्ता के लिए नहीं। रघुवीर जी की 'सस्ते दाम की दूकान' इस तथ्य पर चोट करनेवाली कविता है-

"वे अपनी चीनी कुछ पैसों के बदले में हमको दे देंगे
क्योंकि पैसा ज़रूरी है
उससे ख़रीदेंगे वे महँगे माल
क्योंकि हमने बताया है कि वह भी ज़रूरी है
ऐसे सुख संपत्ति चीनी के बहाने बढ़े
तो सस्ते दाम की दूकान ज़रूरी है।"[46]

वस्तुकरण की प्रक्रिया के सबसे ख़तरनाक ज़माने से समाज गुजर रहा है। चीज़ों की दुनिया बृहतर होती जा रही है। चारों ओर व्यापार, लाभ, कीमत, मुफ्त, माल, क्रय-विक्रय शब्द गूँज रहे हैं। गिरिजा कुमार माथुर इसका आकलन करते हुए लिखते हैं-

"अर्थ उपनिवेश बनते हैं
मूल्य बाज़ारों में बिकते हैं
विक्रय होता है आदर्शों का
देश, व्यक्ति का, संस्कृतियों का
लोकतंत्र भी यहाँ जाल है
आत्मा अन्तःकरण माल है।"[47]

सामान्य आदमी का वस्तुबोध बाज़ार के वस्तुबोध से मेल नहीं खाता- यह सोचकर कि एक जोडी जूता ज़िन्दगी भर चले, आम आदमी उसे खरीदते हैं। बाज़ार का टिकाऊ सिद्धान्त उससे मेल नहीं खाता। 'यूस ऐण्ड थ्रो' संस्कृति में चीज़ों की दीर्घकालीन उपयोगिता की बात तक नहीं उठती।

आज समाज क्रेता-विक्रेता वर्गों में विभक्त है, इनके बाहर खडे आदमी को अस्तित्वहीन माना जाता है। आर्थिक दृष्टि से जो मुनाफेदार नहीं हैं वे समाज से फेंके जाते हैं, सडने-गलने के योग्य बन जाते हैं। अपना उपयोगितामूल्य नष्ट होकर भटकनेवाले व्यक्ति का चित्रण बलदेव वंशी ने 'उपनगर में वापसी' में किया है-

"पागल नागरिक की कोटि में आता है
उसके जिस्म पर
लाल सफेद चीटियाँ
रंग रही हैं एक साथ
क्या नागरिक होना
यों निरीह होना है।"[48]

प्रौद्योगिक विकास की दौड में प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता की मानसिकता को

बढ़ावा मिल गया है। आदमियत की रागात्मकता, संबंधों की ऊष्मा सब कुछ की तिलांजलि कर दी गई है-

"कितना घिनौना हो गया है जीव
अवसर-अवकाश में गल बहते हैं अंग
सुविधा की घात में
लट लटकर
दुविधा में ग्रस्त है पूरा व्याकरण
उपजीव्य ही सच है अब।"[49]

'हरिजन बस्ती', 'पर्दा बदलते हुए' जैसी कविताओं में धन-लालसा को रिश्तों का आधार बन जाने की दर्दनाक स्थिति को बदलदेव वंशी ने उकेरा है।

मानव का दाम बाज़ार में बढ़ गया है पर मानवीयता का मूल्य नहीं। 'इक्कीसवीं सदी का एक विज्ञापन' में लीलाधर जगूडी ने यांत्रिक मनुष्यों के उपयोगितावाद (उपभोगवाद) पर करारा व्यंग्य प्रस्तुत किया है-

"मुझे ऐसे बच्चे चाहिए जो सीधे आदमी हो जाएँ
जिनके बडे होने और खडे होने का इंतज़ार न करना पडे
जो एकदम तैयार रहते हो और छुट्टी न लेते हो
जो सोचे नहीं सिर्फ करें
बस बीमार न पडते हो जो सिर्फ जिएँ और मरे।"[50]

वाणिज्यिक नजरिए के बाहर की कुछ ऐसी चीज़ें भी है जिनका मूल्य पैसे में निर्धारित नहीं किया जा सकता। लीलाधर जगूडी इसी बात की याद दिलाते है-

"स्फूर्ति थी तब रुपए नहीं थे
रुपए आए तो स्फूर्ति नहीं है
स्फूर्ति में आने चाहिए रुपए
रुपयों से स्फूर्ति नहीं आती

जो चीज़ रुपयों से नहीं आती
रुपया आता है उसे खोने के बाद।"[51]

कवि ने 'आर्थिक मामले' नामक कविता के माध्यम से अमरीका के नव उपनिवेशवादी अर्थतंत्रों का खुलासा किया है-

"लो अमरीका ने तुम्हारे लिए एक अंतरिक्षरोटी बनाई है
इसे खाओ वरना बाज़ार में
तुम्हारी हड्डियाँ दोयम दर्जे की गिनी जाएँगी
पैदा तुम कहीं भी हो ओ
बिकना तो तुम्हें अमेरिका में ही है।"[52]

आदमी की आदमियत को, खून-हड्डियों को बिक्री के लिए प्रदर्शित करनेवाली साम्राज्यवादी ताकतें उनके बाज़ार मूल्यों को बढ़ाने के उपाय ढूँढ निकालती हैं। बाज़ार मूल्यों में वृद्धि का मतलब असल में उनका अवमूल्यन ही है। समकालीन कवियों में राजेश जोशी भी अर्थाधारित वर्तमान के प्रति सजग है और बोल पाते हैं कि आगामी दुनिया में आदमी की ज़रूरत नहीं होगी, संबंधों को बनाये रखने की ज़रूरत नहीं होगी। उनकी कविता 'इक्कीसवीं सदी की ओर' की पंक्तियाँ हैं-

"जानता हूँ जानता हूँ
वहाँ ज़्यादा नहीं होगी आदमियों की ज़रूरत
वहाँ जगह ही कहाँ होगी हमारे हिलने-डुलने को
आयातित टेक्नोलॉजी घेर चुकी होगी
सारी जगह।"[53]

चन्द्रकान्त देवताले की कविताएँ 'सबसे ज़रूरी काम', 'लेब्रेडोर', 'चकमक पत्थर' आदि काल चेतना की गहरी समझ के साथ अर्थ की नियंता शक्ति की चर्चा करती हैं। दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही दूकानों की संख्या और चीज़ों की बहाव में मनुष्य असमंजस पड जाता है-

"दूकानें चीज़ों से अँटी पडी है
हम इन चीज़ों के बारे में नहीं जानते
और ख़रीद भी नहीं सकते।"[54]

यह बाज़ार का समय है। व्यापारिक रिश्ते चल रहे हैं। क्रय-विक्रय की व्यवस्था के बाहर किसी को भी गिना नहीं जाता।

"यह वक्त बाज़ार है लेब्रेडोर
तुम्हारी परछाई तक पर
नज़र है ख़रीददार की

बगीचे पर फूलों की गंध
इंच भर शीशियों में

और भूखण्ड भर, क्रान्ति के बीज

ब्हिस्की की बोतलों में बिक रहे हैं।"[55]

बाज़ारीकरण के प्रभावों से बच न पाने की दुरवस्था में, बढ़ती कीमतों के बीचों बीच आदमी अपने को 'झूठ के भीतर' छिपाने को विवश हो जाता है। 'झूठ के भीतर' कविता में राजेश जोशी ने इस स्थिति को अभिव्यंजित किया है-

"रुपये के अलावा हर चीज़ की कीमत बढ़ रही थी

पूरे आसार थे कि और बढेंगी कीमतें

मकान का किराया जेब से बहुत बडा था

इसलिए मैं एक झूठ के भीतर रहने लगा।"[56]

इसी प्रकार पूँजीपतियों के हाथों चली गई देश की अर्थ नीति में साधारण जन कर्ज और उधार में डूबकर अपना सर्वस्व गिरवी पर रख चुका है। अभी तक न जन्म लेनेवाले बच्चे तक विश्व बैंक के घृणी बन चुके हैं।

मीडिया ने शब्दों को बाज़ारूपन दिया है। संचार-प्रसार माध्यमों ने शब्दों के अर्थों का विपर्यय कर दिया है। एक ओर तो शब्दों का अर्थ नहीं रहता है और दूसरी ओर निष्क्रिय चुप्पी फैल गई है। 'ऐसा क्यों हो रहा है?' कविता में अरुण कमल पूछते हैं कि औरत की इज्जत और आदमी का खून खो जाने के साक्षी होकर भी आधुनिक मानव अपने को सुरक्षित और निष्क्रिय बनाकर चुप्पी साधता है। बाज़ार संस्कृति ने प्रतिक्रिया विहीन समाज की रचना की है।

धन-तत्व की महत्वपूर्ण भूमिका बाज़ार का मूल तत्व है। जब जीवन में धन

केन्द्र बिन्दु बन जाता है तब बाकी सब मूल्यविहीन जान पडते हैं। राजकमल चौधरी की कविता 'राग-धन-श्री' इसी ओर व्यंग्य करती है-

"बाकी सब, मूल्य बोध
दृष्टि महामाया है
यह धन आत्मा है

मूल तत्व है धन
एक एक क्षण करता है
यही सत्य वृष्टि"[57]

बाज़ार दुनिया में अपने हितानुसार आदतें पैदा करता है। व्यक्तिगत सुविधानुसार समय को भी निर्धारित करता है। राजेश जोशी समाज में बढ़ती इस आदत की ओर इशारा करते हैं-

"जब तेज़ी से व्यावसायिक होने लगती है चीज़ें
तो नई आदतें प्रवेश करती हैं समाज में
लोग कुहनी उठाकर चलने लगते हैं अचानक
कुहनी से धकियाते हुए वे
निकल जाना चाहता है एक दूसरे से आगे
हिंसा धीरे-धीरे बन जाती है आदत।"[58]

कैलाश वाजपेयी का कविता संग्रह 'संक्रात' में भी जीवन के प्रति ऐसे बाज़ारू दृष्टिकोणों के बढ़ने का विरोध पाया जाता है। 'तरसे हुए देश में' कविता में वे बताते हैं कि आज धूर्त होना अतिरिक्त गुण और बेईमानी प्रामाणिक बन चुकी है।

समाज के सर्वमान्य मूल्यों के रूप में दोहरा व्यक्तित्व, पाखण्ड चाटुकारिता प्रचार पक्षपात और उलझन साबित हो चुके हैं। समाज का समय व्यक्तिगत सुविधा को साधने का साक्षी बन गया है। पानी का बाज़ारीकरण हो चुका है, शुद्ध पानी का पेटेंट बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों में है। फिल्म अभिनेता देश की संस्कृति के रक्षकों के रूप में अवतरित हुए हैं।

चीज़ों की चकाचौंध में आदमी की विवेकदृष्टि नष्ट हो चुकी है। ब्रांड संस्कृति के प्रचार द्वारा मीडिया भी ऐसी धारणा फैलाता है कि आदमी यानी उपभोक्ता की गरिमा उनके द्वारा प्रयोग में लानेवाली चीज़ों की कीमतों पर निर्भर है। अतः बाज़ार समाज को हीन भावना से अभिभूत कर उनके बीच एक अपरिभाषेय वर्ग संरचना कर रहा है। राजेश जोशी इस नववर्ग विभाजित समाज के प्रति अपनी क्षुब्धता व्यक्त करते हैं-

"चीज़ें लोगों को आपस में बाँट देती हैं
और अपनी कीमत से छोटा और बडा
बना देती है लोगों को

कई बार उनकी कीमत के आगे
कम हो जाती है हमारी कीमत।"[59]

उपभोक्ता की आत्मभावना को कुचलकर चीज़ों का प्रलय बाज़ार में अपना अस्तित्व साबित कर लेता है।

बाज़ार में नई-नई चीज़ों के प्रचार होने से हम अपनी क्रयशक्ति का पूरा फायदा उठाने लगते हैं और अपने पुराने जूतों की तरफ शर्म और हीन दृष्टि से देख लेते हैं।

'वस्तुओं के बारे में एक कथन' नामक उपरोक्त कविता में कवि ने आदमी का जीवन बाज़ार में सीमित, बाज़ार पर केन्द्रित होने का दस्तावेज़ प्रस्तुत किया है। कविता के अंत में कवि कह देते हैं-

"चीज़ें एक दिन इनती ताकतवार हो जाती है
कि बनती जाती है उनकी स्वतंत्र सत्ता
तब आदमी नहीं, चीज़ें तय करने लगती हैं
आदमी का भाग्य।"[60]

भूमण्डलीकृत व्यवस्था में संस्कृति के रक्षक या 'अंबासडर' के रूप में फिल्म अभिनेताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी है। साधारण जन अपना अस्तित्व भूल जाकर बाज़ार द्वारा नये विश्व में विचरने लगते हैं तो असफलता और निराशा के शिकार बन जाते हैं। कैलाश वाजपेयी 'सतह चेतना' में यही उद्‌घाटित करते हैं-

"फिल्मों के झागदार गीतों में
निष्पत्ति खोजते
साधारण लोगों के साधारण सपने
परदों पर पंख फडफडाते हैं

बाज़ार में विण्डो-शॉपिंग करते
पति-पत्नी घर से नाराज़ है।"[61]

विश्व बाज़ार का विकास क्रम इस प्रकार है, बाज़ार पहले हमारा घर बन जाता है, फिर शहर, फिर हमारा देश और दुनिया ही बाज़ार रह जाती है। 'ये फूल नहीं' संग्रह की कविता 'जप-तप' में अजितकुमार ने इस विकास क्रम की चतुराई

पर आश्चर्य और आशंका व्यक्त करते हैं। व्यक्ति के मन से लेकर चलनेवाली दूकानें, पूरी दुनिया में फैलकर जीवन को एक 'निरंतर शॉपिंग त्योहार' बना देती हैं। शॉप करने की शौक में घर भूल जाते ग्राहक को बाज़ार की तलाश में घुमाकर दुनिया विश्वगाँव का अपना रूप दिखाती है। संबंध भी व्यापारिक संबंध रह जाते हैं, घृणा, प्यार, दोस्ती, वैर के विहीन रह जाते हैं। 'पैसा' जीवन साध्य बन गया है। पैसा कमाना और चीज़ें ख़रीदना दैनिक व्यवहार बन गया है। इससे अलग रहकर वर्तमान आदमी जी नहीं सकता।

चारों ओर षड्यंत्रों से भरी दुनिया में मानव 'आज का अभिमन्यु' बन गया है। समकालीन कविता के आरंभ से लेकर कविगण इसी पहचान को साथ लिए हुए हैं और उस चक्रव्यूह को सफल ढंग से भेदने की प्रेरणा और ताकत आदमी के मन में, भाषा में भर देने की कोशिश करते आए हैं। श्यामसिंह शशि वर्तमान बाज़ार का एक नया रूपक रचकर अपना मत व्यक्त करते हैं-

"वे देखो मेरे सामने कलियुगी कौरवों के
एक नहीं, अनेक चक्रव्यूह खडे हैं।
जिन्हें मैं बार-बार तोडता हूँ
वे बार-बार जुड जाते हैं
और मैं उलझा हूँ
कभी न ख़त्म होनेवाली लडाई से
आज के चक्रव्यूह की।"[62]

समकालीन कवि बाज़ार के षड्यंत्रों के प्रतिरोध में खडे होते हैं, प्रतिक्रियाविहीन उपभोक्ता समाज पर व्यंग्य करते हैं और सही पहचान का विवेक पंक्तियों में भर देते हैं।

2.9 निष्कर्ष

बाज़ार में प्रदर्शन एवं विपणन हेतु उत्पादित चीज़ों में मानव की भी गणना वर्तमान व्यवस्था का सत्य बन गया है। यह प्रक्रिया अनेक पहलुओं में, पक्षों में निरंतर ज़ारी रही है इसका पूर्वाभास आधुनिक कवियों की पारदर्शिता में अवश्य शामिल था। भारतेंदुकाल से लेकर विदेशी व्यापार नीतियों के सुदूर परिणामों में मानव के बाज़ारीकरण की गिनती की जाती थी। बाज़ार के तंत्र अर्थ व्यवस्था के साथ साथ सांस्कृतिक बिखराव पर भी केन्द्रित रहे हैं। कविता का आधुनिक इतिहास इस पहचान के प्रति सजगता व्यक्त करता रहता है। भारतेंदु, द्विवेदी, छायावादी, प्रगतिवादी युगों में कविता का आर्थिक पक्ष स्वतंत्रता संग्राम से जुडकर, विदेशी व्यापार की दमन नीति के विरोध के रूप में प्रकट होता है।

स्वतंत्रता के पश्चात कवियों का मोहभंग सरकार की असफलता, मध्यवर्ग की निराशा और शासन के भ्रष्टाचार आदि पहलुओं से गुज़रकर मानव की कीमत पूछनेवाले वर्तमान बाज़ारू संस्कृति तक पहूँच गया है। धन जब धर्म हो जाता है तब बिकने-ख्ररीदने के बीच आदमी के क्रियाकलाप सीमित हो जाते हैं। नब्बे के पूर्व के कवियों ने जीवन के आर्थिक पक्ष और सांस्कृतिक पक्ष के अंतर्संबंधों को, मानवतावादी दृष्टिकोण से परख्रा है। बाज़ार की चमक-दमक में, भाषा को, स्वत्व को, अभिव्यक्ति को ख्रोकर दिशाविहीन सभ्यता के हिस्से बन जाने से मानव को रोक देने की कोशिश भी तत्कालीन कविता में है। प्रतिरोध एवं संघर्ष की एक परंपरा की एक सशक्त शुरूआत है।

संदर्भ-सूची

1. रामविलास शर्मा - भारतेंदु युग, पृ.196
2. डॉ. एस. क्रिस्तुदास चन्द्रन- भारतेंदु युगीन हिन्दी कविता, पृ.161
3. मैथिलीशरण गुप्त - साकेत, पृ.232
4. डॉ. सरोज चौरसिया- मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में युग चेतना, पृ.198
5. मैथिलीशरण गुप्त - भारत-भारती, पृ.110
6. वही, पृ.113
7. वही, पृ.155
8. डॉ. संतोष कुमार तिवारी- छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना, पृ.12
9. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला- अपरा, पृ.66
10. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला- नये पत्ते, पृ.39
11. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला- अनामिका, पृ.42
12. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला- अणिमा, पृ.51
13. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला- अनामिका, पृ.67
14. जयशंकर प्रसाद- कामायनी, पृ.88
15. डॉ. गीता दबे- पंत काव्य में समाज और संस्कृति, पृ.151
16. वही, पृ.174
17. वही, पृ.49
18. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला- नये पत्ते, पृ.29

19. अजय तिवारी- नागार्जुन की कविता, पृ.116

20. विजयशंकर मल्ल- हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद और अन्य निबंध, पृ.111

21. डॉ. रमाकान्त आपरे- नागार्जुन के काव्य में जनवादी चेतना, पृ.126

22. शिवप्रसाद शुक्ल- कविता की समकालीनता, पृ.56

23. रामविलास शर्मा- प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ.134

24. शिवमंगलसिंह सुमन- प्रलय सृजन, पृ.81

25. डॉ. रामकली सराफ- समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ, पृ.107-108

26. सं. नेमिचन्द्र जैन- मुक्तिबोध रचनावली, प्रथम खंड, पृ.211

27. गजानन माधव मुक्तिबोध- चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ.49

28. सं. अज्ञेय- तीसरा सप्तक, पृ.230

29. संपादक. नेमिचन्द्र जैन- मुक्तिबोध रचनावली, खंड-दो, पृ.319

30. डॉ. हरिचरण वर्मा- धर्मवीर भारती का काव्य सृष्टि और दृष्टि, पृ.59

31. प्रभा खेतान- भूमंडलीकरण, ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, पृ.81

32. शमशेर बहादूर सिंह- इतने पास अपने, पृ.28

33. डॉ. संतोषकुमार तिवारी- अज्ञेय से अरुण कमल, भाग-1, पृ.249

34. सं. अज्ञेय- तारसप्तक, पृ.135

35. डॉ. संतोषकुमार तिवारी- अज्ञेय से अरुण कमल, भाग-1, पृ.351

36. डॉ. यू. श्रीकला- समकालीन कविता और शमशेर, पृ.116

37. डॉ. रणजीत- हिन्दी की प्रगतिशील कविता, पृ.169

38. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना- जंगल का दर्द, पृ.65

39. डॉ. नवल किशोर दुबे- शमशेर : एक समालोचना, पृ.228

40. डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय- समकालीन हिन्दी कविता की भूमिका, पृ.3

41. डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय- आपातकालोत्तर हिन्दी कविता, पृ.127

42. गिरिजाकुमार माथुर- मुझे और अभी कहना है, पृ.71

43. रघुवीर सहाय- कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ.60

44. सुदामा पाण्डेय धूमिल- संसद से सडक तक, पृ.57

45. सुदामा पाण्डेय धूमिल- कल सुनना मुझे, पृ.74

46. रघुवीर सहाय- लोग भूल गए हैं, पृ.82

47. गिरिजाकुमार माथुर- मुझे और अभी कहना है, पृ.317

48. बलदेव वंशी- उपनगर में वापसी, पृ.13

49. वही, पृ.19

50. लीलाधर जगूडी- भय भी शक्ति देता है, पृ.111

51. वही, पृ.117

52. वही, पृ.112

53. राजेश जोशी- नेपथ्य में हँसी, पृ.47

54. चन्द्रकान्त देवताले- आग हर चीज़ में बताई गई थी, पृ.85

55. चन्द्रकान्त देवताले- पत्थर की बेंच, पृ.105-106

56. राजेश जोशी- नेपथ्य में हँसी, पृ.55

57. राजकमल चौधरी- ऑडिट रिपोर्ट, पृ.181

58. राजेश जोशी- नेपथ्य में हँसी, पृ.57

59. वही, पृ.59-60

60. वही, पृ.60

61. कैलाश वाजपेयी- संक्रान्त, पृ.68

62. हुकुमचन्द राजपाल- समकालीन कविता-चर्चित परिचित चेहरे, पृ.53

तीसरा अध्याय

बाज़ारीकरण के आर्थिक - वाणिज्यिक पक्ष और कवियों का प्रतिरोध

3.1 विषय प्रवेश

उदारीकृत खुली अर्थव्यवस्था द्वारा प्रायोजित मुक्त बाज़ार ने खरीद-बिक्री की सामाजिक नीति रची है। पूरी दुनिया को आर्थिक रूप से विकसित करने का ठेका अमरीका ने ले लिया है और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने कुशल कार्यकर्ता भी बना दिये है। मुनाफाधारित क्रियाकलापों में प्रतिस्पर्धा के नये अध्याय जोडे जा रहे हैं और पूँजी निवेश के क्षेत्रों को उत्तरोत्तर विस्तृत कर रहे हैं। ऐसी कोई भी चीज़ न रही है जो व्यापारिक दृष्टि से न देखी गई हो। समाज का एकमात्र मतलब बाज़ार रह गया है, मानव का अस्तित्व बाज़ार में उसकी क्रयशक्ति पर बुरी तरह से आधृत बन गया है और जीवन के आर्थिक पक्ष की चकाचौंध में बाकी सारे पक्ष परछाइयाँ बन चुके हैं। बेच-खरीद में बढ़ोत्तरी, सामानों से भरे हुए बाज़ार और बाज़ार में बढ़ती भीड आर्थिक विकास के मापदंड बन गये हैं। निजीकृत समाज की सार्वजनिकता एकदम विलुप्त हो चुकी है। नव साम्राज्यवाद जीवन की बहुरूपता के समतलीकरण करने में लगा हुआ है और मानव के मन-मस्तिष्क, बुद्धि-विचार में पूँजी निवेश कर रहा है। सुधीश पचौरी ने उत्तराधुनिक समाज में बाज़ार की ताकत व्यक्त करके बताया है कि बाज़ार जीवन के हर क्षण को अपना उपनिवेश बनाकर अपना उपक्षेत्र बनाता है।

शहरों पर आधारित एक अर्थप्रणाली की संरचना में गाँवों का, खेतों का, किसानों का अस्तित्व बिखराव के कगार पर छोडा दिया गया है। विकास की प्रक्रिया में सहभागी बनने के साथ-साथ आज के मानव प्रतिद्वन्द्वी भी बन गए हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा रचित बाज़ार व्यवस्था ने धीरे-धीरे मीडिया को अपने आकर्षण का हथकंड बनाकर पूरे समाज को उपभोक्तावर्ग में तब्दील कर दिया है। श्रमशक्ति के ऊपर क्रयशक्ति आसीन कर ली है। दुनिया में अर्थतंत्र की नई तकनीक और उसके

अंतर्गत एक विश्व बाज़ार की संरचना की गई जिससे जुडे रहना पूरे विश्व की, प्रत्येक देश की अपनी अर्थव्यवस्था को सिद्ध करने के लिए, मज़बूरी बन गई।

पूँजीवाद के अनियोजित विकास की व्यवस्थाओं के कारण क्षेत्रीय विषमताओं में बढ़ोत्तरी होती है और पूरी दुनिया संपन्नता और विपन्नता के ध्रुवों में विभाजित होती है। औद्योगीकरण के लाख्रों प्रयासों के बावजूद भी विशाल पैमाने पर बेरोज़गारी फैल रही है। ई-कमर्स के अंतर्गत किसान टिक नहीं पाता है और स्वांत सुख्राय जुडनेवाली संपन्न शक्तियों की व्यापारिक हितसाधक साजिशों के शिकार बन जाता है एक बहुसंख्यक शोषित वर्ग। दुनिया के सारे संसाधनों पर नियंत्रण और एकाधिकार हासिल करके पश्चिमी देशों द्वारा उन्मुक्त बाज़ार, गैट, विश्व व्यापार संगठन आदि भिन्न किन्तु सहभागी तरीकों से विश्व की पूँजी का केन्द्रीकरण ही चल रहा है। आज दुनिया की लगभग साठ हज़ार बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने संसार को अपने मकडजाल में बाँध रख्रा है। पूँजी के अबाध प्रवाह में अनियंत्रित व्यापारिक संबंध बढ़ते जाते हैं तो आर्थिक एकीकरण में गरीब वर्ग एक हाशिएकृत वर्ग ही रह जाता है। दुनिया को एकसूत्र में बाँधने का भारतीय परंपरागत सूत्र 'वसुधैवकुटुम्बकम्' अब 'ग्लोबल विल्लेज' में परिवर्तित हो गया है जो सिर्फ अर्थाधारित है। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा बढ़ाने का काम ही भूमंडलीकरण संसार में कर रहा है। मानवीय रिश्ते को भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से वह नहीं जोड रहा है।

ज़िन्दगी के इस औद्योगिकरण, निजीकरण, उदारीकरण, और शहरीकरण के पीछे छिपे निजी स्वार्थों को पहचानकार उनका सर्जनात्मक अवरोध, प्रतिरोध और विरोध में समकालीन साहित्यकार एकजुट हो गए हैं। वे पहचानते हैं कि बाज़ार ठोस वास्तविकताओं को नकारकर एक प्रतीयमान वास्तविकता पैदा करनेवाली वह संरचना

है जो व्यक्ति को पहले उपभोक्ता और फिर उत्पाद बनाती है। नव पूँजीवाद के अर्थ तंत्रों को समकालीन कवियों की रचनात्मक चेतना ठीक से समझती है और पांक्तेय करती है। अर्थ में पिसनेवाले मानव के पक्षधर रहकर कवि लुटेरों के इस समाज और समय में, जीवित रहने के उपाय ढूँढ़ते हैं। बाज़ारीकृत दुनिया में, जहाँ उपभोक्ता से सोचने का अधिकार तक छीन लिया जाता है, वहाँ कवि उनके सामने रचनात्मक विकल्प दर्शाते हैं। विपणन केन्द्रों में भटकनेवाली सामाजिकता को पुनः वैचारिक क्षमता के साथ जोड देते हैं। वे कभी भी 'अर्थ' के व्याख्याकार नहीं बनते बल्कि वर्तमान चुनौतियों को स्वीकार कर प्रतिरोध की एक सुनियोजित शैली का ईजाद करते हैं। पूँजीवादी धनतंत्र के विपक्ष में समकालीन कविता रची जा रही है। कवि की चेतना उन लहलहाती खेतों के समान उम्मीद भर देती है, जिससे अलग होने को किसान मज़बूर हो गए हैं। उस बीज की व्यथा से, मिट्टी की गंध से संवेदना जोडते हैं जिनका पेटेंट बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपना लिया है। धरती को बंजर और आकाश को जहरीला बना देने की कूटनीतियों से समकालीन कवि समझौता नहीं कर पाते हैं। वे स्वयं विज्ञापित और प्रयोजित न होने की तीव्र आतुरता में सृजनरत हैं।

3.2 किसानों का वर्तमान संकट

बाज़ार में अपने को विस्थापित कर देनेवाले बहुसंख्यक समाज में किसान का नाम सबसे पहले आ चुका है। उनके सामने एक ओर बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अपनी ज़मीन छीन लेने की विडंबना है तो दूसरी ओर अपने उत्पादों को निर्धारित खरीद मूल्य न मिलने पर खेती छोडने की विवशता है। औद्योगिक विकास का मतलब खेती का दोहन बन गया तो पूँजीवादी बाज़ार में किसान टिक नहीं पाता। औद्योगिक देशों में उन्मुक्त बाज़ार-व्यवस्था के तहत छोटे किसान हाशिए पर जाते-जाते

विलुप्त हो गए। बाज़ार बसाने की दौड में किसानों की दुर्दशा पर सच्चिदानन्द सिन्हा की टिप्पणी है- "आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के हर पग पर किसानों के हित की बलि चढ़ाई जाती हैं। चाहे नर्मदा जैसे बडे बाँधों से हो, औद्योगिक नगर बसाने के लिए हो या महानगरों या अभयारण्यों का प्रसार हो, सभी में किसानों का ही विस्थापन होता है। एक तरह से वर्तमान सभ्यता में विस्थापन किसानों की नियति बन गई है।"[1]

खेती में खर्च करने के लिए पूँजी कभी कभी किसान की अपनी होती है कभी उधार की। बिक्री के समय कम कीमत में उत्पाद बेच देने की विवशता आने के कारण खेती का अर्थ उनके लिए नुकसान ही रह जाता है। उनके सामने दो ही उपाय रह जाते हैं- खेती छोडकर मज़दूर बन जाना या तो आत्महत्या कर लेना। विश्व बाज़ार की प्रतियोगिता में वे हार जाते हैं और अपनी खेती का रकबा घटाने की बात सोच रहे हैं।

समकालीन कवि बाज़ार में किसानों की दुर्दशा का अनदेखा कर नहीं सकता है-

कवि ज्ञानेन्द्रपति वैश्विक आर्थिक नीति के शिकार किसानों की यथास्थिति का साफ बयान देते हैं-

"यह उपजाऊ देश बहुराष्ट्रीय कंपनियों का चरागाह बन रहा
डिब्बा बन्द खाद्य निर्माता कंपनियाँ
बढ़े हुए किसानों को पिछडे हुए अनाज उगाने देंगी कब तक
अनन्य अन्न।"[2]

खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र से देशी किसानों को धकेलकर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ काफी लोकप्रिय खाद्य डिब्बाबद्ध करके परोस देती हैं जिसकी प्रतिद्वन्दिता किसानों के लिए बिलकुल असंभव है। बाज़ार की प्रतिस्पर्धा में वे निहत्थे पड जाते हैं, कभी कभी अपने उत्पादों को उत्पादनखर्च से भी बहुत कम दामों पर बेच देने को विवश हो जाते हैं। एक तरफ प्राकृतिक आपदाओं से वे उलझ जाते हैं तो दूसरी तरफ वैश्विक बाज़ार की तूफान से। अरुण देव की कविता 'गेहूँ का उचित मूल्य' इस व्याकुलता को पेश करती है-

"कभी सूखा, कभी बाढ़, कभी पाला
अभी भी वह आसमान के नीचे हैं अपनी फसलों के साथ
अपने मवेशियों और अपने परिवार के साथ
कभी दह जाता है कभी बह जाता है
कभी टूटकर नगरों में बिखर जाता है।"[3]

भारत भूमि के अन्नमय कोश के मधुमय प्राण, सुदूर पश्चिम के जीन बैंक में, बीज संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है और पुष्ट संकर बीज भारत के खेतों के लिए आयातित किया जा रहा है। 'बीज व्यथा' नामक अपनी कविता में ज्ञानेन्द्रपति किसानों के खिलाफ पोल खोलते इस पश्चिमी षड्यंत्र को व्यक्त करते हैं-

"यहाँ की मिट्टी में जडें जमाने
फैलने फूलने
रासायनिक स्वादों और कीटनाशकों के जहरीले संयंत्रों की
तुम्हारा घर उजाडकर अपना घर भरनेवाली आयातित तकनीक।"[4]

कृत्रिम स्वाद्यान्न संकट पैदा करके संकर बीज़ों का उत्पादन और विपणन अपने में केन्द्रित करके बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ ऐसे बीज़ों का उत्पादन करती हैं जिनके फसलों से पुनरुत्पादन न किया जा सके। पेटेंट के नाम पर बीजों पर एकाधिकार भी हासिल करके वे किसानों को ऐसे बीज हर बार ख़रीदने को मज़बूर करा देती हैं। रासायनिक ख़ादों और कीटनाशकों से सजे हुए संकर बीज़ों को आयातित करके भारत-भूमि के, खेती के, जीवन स्फुलिंगों को नामशेष बनाये जाते हैं। यहाँ के किसानों को खेती न करने के लिए विवश बना दिया जाता है।

खेती से भावनात्मक रुप से भी जुडे किसान विपन्न होकर अपनी ज़मीन पूँजीवादी प्रतिष्ठानों के हाथ बेचकर आजीविका के नये मार्ग ढूँढ फिरते हैं। निलय उपाध्याय ने अपनी कविता में सूचित किया है कि किसान जीवन का मोल देकर छुपा लेना चाहता है यह राज कि सदियों से खेती के तट पर बंधी उसकी नाव अब डूब गई है। आज खेती नहीं करने से ही उनका काम चलता है, वे खेती छोडकर मज़दूर बन जाते हैं।

एक ओर किसानों की ज़मीनें हडपी जा रही हैं तो दूसरी ओर उनके प्रतिरोध का, हथियारों से दमन भी किया जा रहा है। किसानों के विरुद्ध सरकार की दमन नीति का भयावह चित्र नंदिग्राम जैसे प्रदेशों में खुल गया था। हर तरफ आर्थिक विकास गाँवों और गरीबों तक पहूँचने का दावा है, इसी के ही बीच किसान आत्महत्या की ओर जा रहे हैं। किसान आत्महत्या आज अख़बारों के लिए कोई नयी ख़बर नहीं रह गयी है और देश की चिन्ता का विषय भी नहीं। अतः कवि अरुण देव पूछते हैं-

"अब कभी तोडना रोटी तो सोचना
क्या तुमने चुकाई है

गेहूँ की वाजिब कीमत
किसान चुकाता है इसका मूल्य
कभी सल्फास खाकर, कभी लटककर पेड से।"[5]

ऋण मेलाओं की रचना करके किसानों को लुभाकर उधार मँगवानेवाला बैंक अंत में उन्हीं किसानों का हत्यारा बन जाता है। लीलाधर मंडलोई की कविता 'अपमान' इस बात का स्पष्ट बयान पेश करती है। एक किसान और मर गया तो उसे आत्महत्या कहना अपमान होगा। मरने के समय एक बैंक का दरवाज़ा खटखटाकर वह मर चुका था। किसानों के हत्यारों को पहचानना आसान है फिर कौन इसमें समय लगा सकता है? एक तरफ भूमंडलीय बाज़ार और कॉरपरेट घरानों से जुडी लालची माइक्रोफिनान्स कंपनियाँ कर्ज दे-देकर निर्धन किसानों को लूट रही हैं तो दूसरी तरफ शासन व्यवस्था इन कंपनियों को रियायत पर रियायत दिये जा रही हैं। खेती को प्रोत्साहित करके बहुराष्ट्रीय निजी कंपनियों को खेत और फसल में एकाधिकार जमाने देने वाला एक विरोधाभास आज की आर्थिक-किसान नीति है। नीलेश रघुवंशी की 'विज्ञापन में किसान' नामक कविता एक हास्यास्पद वर्तमान स्थिति पर व्यंग्य करती है-

"लहलहाते खेत-आसमान को छूते
खडी फसलें
ट्रेक्टर पर हाथ में मोबाइल लिए किसान
ट्राली अनाज के बोरों से लदी
मंडी में मिलते अनाज के सही दाम
खिल-खिल जाती बछें घर-भर की
कितना खुशहाल जीवन, विज्ञापन में किसान का"[6]

ऐसा ख़ुशहाल जीवन देश के छोटे किसानों के लिए लागू नहीं होता। उनके अस्तित्व पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने उपनिवेश कर लिया है। वे ऐसा एक निवेश कर रही है जिससे किसानों के सारे बीज निरंकुर सिद्ध होते हैं। लीलाधर जगूडी के शब्दों में-

"ऐसे बीज का
व्यापारिक बंधुत्व के साथ
पूरे विश्व में प्रयोग करना है
जो फिर अपना बीज न बनता हो
जितनी बार ख़रीदो बस मौजूद है निरंकुर बीज।"[7]

आर्थिक उदारीकरण के वक्ताओं का कहना है कि वैश्वीकरण की नीतियों से अनुशासित देश में विकास ही विकास चल रहा है, प्रगति के उच्च पद की ओर अग्रसर है। शहर के बाज़ारों में दिख्राई देनेवाली चीज़ों की बाढ़ इस विकास मंत्र का एकमात्र आधार है। विकास का मानदण्ड प्रौद्योगिकी में सीमित हो जाता है तो खेती-बारी और लघु-कुटीर उद्योग विनाश की ओर फेंके जाते हैं। बाज़ारीकृत विकास के अंतर्जाल का एतराज कवि उमाशंकर चौधरी इसप्रकार करते हैं-

"इतिहास में यह समय
जितना विकास के लिए दर्ज होगा
उससे अधिक होगा अपनी विडंबनाओं के लिए
और जब बारी उन विडंबनाओं की पडताल की आएगी
तब जो सबसे ऊपर आएगा, उसमें होगा
अख़बार में छपी किसानों की आत्महत्या की ख़बर
और यह कृषिप्रधान देश।"[8]

देशी अर्थव्यवस्था की आत्मनिर्भरता पर लात मारकर पूँजी की असीमित संभावनाओं से भरी सत्ता के खेल में देश के अन्नदाता वर्ग को हाशिएकृत किया जाता है। खेत को, ज़मीन को उसकी पहूँच से छीन लिया जाता है और उनकी अपनी भूमि को बडे-बडे शॉपिंग मॉलों में तब्दील करा देते हैं। सालों तक की मेहनत की 'मुआवज़े' नाम से सौदागरी करके चुप बना देने हैं और किसान को दुनिया में लुप्त होती कोई प्रजाति के रूप में आँका जाता है। 'किसान बैठा है खेत की आड पर' कविता इसका साक्ष्यांकन है-

"उस किसान को अभी नहीं है मालूम
एक दिन ऐसा ही पकडा दिया जाएगा उसे
मुआवज़े की रकम भरा एक और चैक
और तब वे हो जाएँगे बेदखल
इस खेत से इस आड से और सबसे पहले
किसान शब्द से।"[9]

समाज के मुनाफाखोरों से बचने के लिए, उन्हें मार डालने के लिए उन कीटनाशकों का प्रयोग करना है जिसे खाकर किसान आत्महत्या कर लेते हैं, तभी मंडी में किसान को उचित कीमत मिल सकता है। किसान और फसल के बीच की दलाली को भी समाप्त करना है। इसलिए कवि अरुण कमल विदर्भा तेलंगाना के किसानों से आह्वान करते हैं कि आत्महत्या के बजाय अपनी छुरी की धार को उलटाकर प्रतिरोध कर देना चाहिए।

भारतीय अर्थ व्यवस्था के एक मुख्य आयाम के रूप में खेती को मानने की परंपरा है। खेती और अससे संबंधित उद्योग धंधों पर निर्भर रहनेवाले देश के 64

प्रतिशत जनसंख्या को उदारीकरण की नीतियों ने अब असमंजस में डाल दिया है। खेती क्षेत्र की बढ़ती हुई संभावनाओं एवं अवसरों को ध्यान में रखकर विश्व व्यापार संगठन में, इसके व्यापार में आनेवाली बाधाओं को भी दूर करने के हित में कृषि पर समझौता (Agreement on Agriculture- AOA) नाम पर एक समझौता किया गया था। इसके अनुसार संगठन के सदस्यी देशों से आयात पर लगी रोक हटाने, निर्यात सब्सिडी समाप्त करने और अन्य गैर प्रशुल्क बाधाओं से अलग होने के शर्त लगाये गये। कृषि उत्पादों के निर्यात के समान अवसर का दावा किया गया था। लेकिन यह समझौता आगे पहूँचकर विकसित देशों द्वारा विकास शील देशों के शोषण को बढ़ावा देने में सहायक सिद्ध हुआ। विकासशील देशों पर अधिक दबाव डालकर, सब्सिडी दिलवाकर अपने उत्पादों की कीमतें गिराने का कार्य चल रहा है। विश्व-निर्यात में अब विकसित देशों का ही वर्चस्व है।

बाज़ार के प्रति समर्पित एक ज़माने में अकलमंद कवि देश की आर्थिक गुलामी के प्रमुख कारण के रूप में खेती के प्रति नजरअन्दाज़ी और किसानों की दुर्दशा को समझते हैं। समकालीन बाज़ार किसानों के सामने चुनौती बनकर व्याप्त हो जाता है। नई अर्थनीति के संरक्षित बाज़ार के अंतर्गत छोटे किसान शामिल नहीं हो जाते। बाज़ार में उनके सामने उत्पादकों का विशाल संसार है, बडे-बडे उत्पादकों से प्रतिस्पर्धा करनी पडती है। तभी उनको लागत से कम कीमत पर अपना उत्पाद बेचने की मजबूरी आ पडती है। शासन और सरकार अधिक मुनाफेदार फार्मों-जैसे- चाय, रबर-आदि पर ध्यान केन्द्रित रखती है तो अनाज और धान के उत्पादक वर्ग उपेक्षित रह जाते हैं। समकालीन कवि यह साबित करने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं कि मॉलों में तब्दील खेतों के साथ हमारी आर्थिक आत्मनिर्भरता खतम होनेवाली

है। आत्महत्या या मज़दूरी की ओर धकेल दिये जानेवाले किसानों को वैश्विक बाज़ार की स्पर्धा से मुक्त करके संरक्षित करने के नारे वे उठाते हैं। खेतों को पूँजीनिवेश के गूढ़ तंत्रों से बचा लेने के पक्ष में समकालीन कवि खडे हो जाते हैं। बाज़ार में अपना हित साधनेवाले वर्चस्वधर्मी धन-तंत्र में वे किसानों को आत्मविश्वास के गीत सुनाकर लडने के सारे हथियार तेज़ बना देते हैं।

3.3 गरीबी का वैश्विक परिदृश्य

नए आर्थिक साम्राज्यवाद के प्रमाण और परिणाम के रूप में गरीबी विश्व स्तर पर पहूँच गई है। आर्थिक उदारीकरण के चलते स्वदेशी उद्योग-धंधों को नुक्सान हुआ है। वैश्वीकृत बाज़ारीकरण के बाद पूँजीपति अधिक धनाढ्य होता गया तथा विपन्न गरीबी के अंधेरे में खोता गया। एक ओर विदेशी पूँजी का स्वागत समारोह चलता रहा तो दूसरी ओर विदेशी कर्ज लेने की मेला भी चलती रही। वैयक्तिक आय में बढ़ावा अवश्य ही आया है, पर गरीबों का आँकडा कम नहीं हुआ है। सच्चिदानन्द सिन्हा के वक्तव्य के अनुसार भूमण्डलीकरण के दौर में दरिद्रतम देशों की संख्या 25 से बढ़कर 49 हो गई है। संपन्नता विपन्नता के मापदंड बाज़ार की प्रवृत्तियों के अनुसार परिवर्तनशील बन गये हैं फिर भी गरीबी का स्थायित्व वैसे का तैसा रह गया है।

अमरीका जैसे धनी और बाज़ार के लिए अन्न पैदा करनेवाले देशों में लाखों टन अनाज समुद्र में डुबा दिया गया ताकि अन्न की कीमत ऊँची रखी जा सके। दुनिया में गरीबी और अभाव बनाये रखना साम्राज्यवादी शक्तियों की ज़रूरत है कि लालच तभी उच्च होती है। पूँजीवादी अर्थतंत्र की पोल खोल देनेवाली है दुनिया भर

में आयी मंदी। जमा ख़ोरी और काला बाज़ारी के अभूतपूर्व बढ़ावे के फलस्वरूप उठी असाधारण महँगाई जनविरोधी शोषणनीति का प्रमाण बन जाती है।

मानव का मूल्य उसकी जेबों में भरे रुपयों के आधार निर्णीत होनेवाली एक दुनिया में गरीबी का स्वरूप और भी बहुरूपी और विलक्षण है। क्रयशक्ति विहीन ग्राहक बाज़ार के लिए गरीब है। दिन-ब-दिन बढ़ती महँगाई आम आदमी को अपनी बुनियादी ज़रूरतों से भी वंचित कर देती है। ज़रूरतों में काट-छाँट करके ही वह अपना मासिक बजट तैयार कर सकता है। 'कटौती' कविता में निलय उपाध्याय इस विवशता को पेश करते हैं-

"इच्छाओं की पचखियाँ छाँटते जाएँगे
ज़रूरतों की शाखें काटते जाएँगे
नाप-तौल कर बनाएँगे
बजट
कुछ कम खाएँगे
कुछ गम खाएँगे।"[10]

आजकल आम आदमी की भूख दुनिया में बहस का विषय नहीं रह गया है। मुद्रास्फीति, शेयर बाज़ार जैसी बडी-बडी समस्याओं पर 'टिकी' हुई वैश्विक दृष्टि में गरीबी और भूख बहस के योग्य विषय नहीं बन जाती। अन्न का उत्पादन केवल बाज़ार को लक्ष्य बनाकर करने लगे तो धन से ही उसका अर्थ व्यक्त होने लगा था। गाँववालों द्वारा अन्न के गोदाम लूट जाने की ख़बर सुनकर कवयित्री को बिना दम

के पेडों से मिलनेवाले फलों की याद आती है। अनीता वर्मा की कविता 'बहस' की पंक्तियाँ बाज़ार और भूख के अंतर्संबंधों को व्यक्त करती हैं-

"मंडियों में शुरू हुआ धन और अन्न का कारोबार
यहीं से पैदा हुई भूख से इनकी दूरी
सौदागर सत्ताधीश इस पर करते थे शासन।"[11]

आय संपत्ति और सामाजिक ताकत के वितरण में निचले पायदान पर होनेवाले गरीब वर्ग के लिए नहीं बनाई जा रही हैं वर्तमान आर्थिक नीतियाँ। कवि विजयराठौर बाज़ार में आम आदमी की विवशता को यों रेखांकित करते हैं-

"चार रुपए किलो की लकडी और
नौ सौ रुपए के गैस सिलेंडर के ज़माने में
संभव नहीं है
अपने हाथ-पाँव चूल्हे में झोंककर खाना बनाना--

अब शायद संभव नहीं है
उन दिनों की वापसी
जब हम खुशहाल थे चार पैसे कमाकर भी।"[12]

मानव श्रम के सस्तीकरण और मशीनीकरण के कारण उत्पन्न बेरोज़गारी ने देश के श्रमिक वर्ग की क्रयशक्ति को घटा दिया और वे वैश्विक बाज़ार के बाहर चले गए। भूख और गरीबी के ऊपर विश्वव्यापार बढ़ाने की चर्चा देश में चल रही है तो खाली पेट गरीब का पहचानपत्र बन जाती है। समकालीन कवि गरीबी के बाज़ारीकरण पर क्षुब्ध हो जाते हैं। पवन करण की कविता 'गरीब देश : दो कविताएँ' की पंक्तियाँ हैं-

"आपके भेजे डॉलर
मैं रोटियों में नहीं बदल पाता हूँ
मेरा ख़ाली पेट मेरी पहचान है
और मेरी भूख मेरी गाथा।"[13]

गरीबी मिटाने की वैश्विक नीतियों में भी बाज़ारतंत्र छिपा हुआ होता है और भूख से लडना बाज़ार की नहीं, सरकार की नहीं, केवल गरीब मानव की ज़रूरत बन जाती है। भूख की जो लडाई रोटियों से हो सकती थी, उसकी हथियारों से हल करने की आदत कवयित्री की समझ में नहीं आती। भीतर फैली वह लडाई किसको लक्षित करती है उसकी नज़र ही नहीं आती, यही विडंबना है।

तीसरी दुनिया के देशों में भूख से मौत की ख़बर चौंकानेवाली है। आम लोगों की इस स्थायी बदहाली में बेरोज़गारी ही प्रमुख कारण है। सरकार भूखों के लिए भोजन मुहैया कराने के बजाय विदेशी पूँजी निवेश के नये-नये क्षेत्र खोल देने में लगी हुई है। उत्पादन ख़र्च को अधिक बताकर देशी उत्पादन को रोक देने में सरकार बड़ी कुशलता दिखाती है और उससे भी अधिक दाम में चीज़ें आयातित करने के प्रति उत्सुक है। राहत के नाम पर अकाल उत्सव में पैसा बहाने के नाटक की साक्षी है देशी जनता। पवन करण की ही पंक्तियाँ हैं-

"सरकार और गैर-सरकार संगठनों के
पैसा बह रहा है भूखों की पहूँच के बाहर
कि ऐसा ही होता है 'अकाल-उत्सव' में।"[14]

3.3.1 बालमज़दूरी एवं उत्पीडन

गरीबी के दुर्दिनों की आवृत्ति के चक्कर में पडने के लिए बच्चे भी विवश हो जाते हैं। चीज़ों का बाज़ार-भाव आकाश में चढ़ जाकर आम आदमी की पहूँच के बाहर हो जाता है तो भूख़ से बेहाल बच्चे भी बाज़ार वृत्त से धकेल दिये जाते हैं। मदन कश्यप की कविता 'आँकडों का बाज़ीगर' ऐसी एक दर्दनाक हालत का चित्र ख़ींचती है-

"जिस दिन बढ़ी कीमत नहीं चुका सकने के कारण
डब डबाई आँख़ों से डबल रोट्टी के पैकट को निहारती हुई
वापस लौट गई थी वह नन्ही लडकी
उसी दिन मुद्रास्फीति घटने की ज़ोरदार ख़बर
छपी थी अख़बारों में।"[15]

अन्याय और शोषण का जाल आज की हालात में इतना शक्तिशाली बन चुका है कि उसकी चपेट में बच्चे भी आ पहूँचे हैं।

विकास की असंख्य योजनाओं के बावजूद हाशिये पर डाल दिये जानेवाले वर्गों में बच्चों का भी बुरी तरह से शामिल होना आधुनिकता की उत्तर व्याख्याओं के लिए शर्मनाक एवं ख़तरनाक है। भूमण्डलीकरण के कार्यान्वयन के बीच भी बेरोज़गारी की ज्वलंत समस्या समकालीन कवियों को नयी पीढ़ी के लिए संघर्ष की संवेदना प्रकट करने को प्रेरित करती है।

केन्द्रीय सरकार के बालश्रम अधिनियम 1986 के अनुसार चौदह वर्ष से कम आयु के बच्चों को रोजगार में लगाने का सख़्त निषेध है। फिर भी किसी कारणवश काम पर जाने को बाध्य होनेवाले बच्चों की संख़्या में कमी नहीं आयी है।

'बच्चे काम पर जा रहे हैं', 'बच्चों की चित्रकला प्रतियोगिता', 'लेबर कॉलेनी के बच्चे' और 'हमारे समय के बच्चे' जैसी कविताओं में राजेश जोशी ने बच्चों की समकालीन दुनिया की निशानदेही करते हैं। कार्टून चैनल, वीडियो गेम और कंप्यूटर में अपनी दुनिया बनानेवाले बच्चों से भी बढ़कर संख्या में पेट भरने के लिए कचरा बीननेवाले बच्चे हैं। गरीब बच्चों की स्थिति पर आक्रोश और आत्मधिक्कार से कवि सवाल करते हैं 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' कविता में-

बच्चे काम पर जा रहे है
हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह
भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना
लिखा जाना चाहिए इसे सवाल की तरह।"[16]

विकास कार्यक्रमों के बीचों बीच काम पर जानेवाले ये बच्चे देश की प्रगति पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं और आर्थिक नीति का उपहास करते हैं। कवि को चौंकानेवाली बात यह है कि समाज इसे विवरण की तरह पढ़ता जाता है, आत्मप्रश्न की तरह नहीं पूछता है।

चन्द्रकान्त देवताले की कविता 'थोडे से बच्चे और बाकी बच्चे', अरुण कमल की कविता 'नागरिक पराभव' आदि भी विश्व व्यापार व्यवस्था में हाशिएकृत होते बालजीवन के प्रति प्रतिबद्ध स्वर सुनाती हैं। आर्थिक ध्रुवीकरण और केन्द्रीकरण के फलस्वरूप विश्व बैंक में अपने को गिरवी रख्र देने की नियति से जूझनेवाली एक पीढ़ी के भविष्य पर चिंता सताकर कुमार अंबुज व्यथित हो उठते हैं-

"कक्षा तीन में पढ़ रही बच्ची को नहीं पता
आनेवाले समाज की भयावहता

उसे नहीं पता उसका कर्णफूल

गिरवी रखे जा चुके हैं विश्व बैंक में।"[17]

इस प्रकार समकालीन कवियों की दृष्टि बाज़ार की प्रतियोगिता में पीछे पड जानेवाले निरीह बचपन की निरूपायता को भी पहचानती है, उनकी भी आवाज़ बन जाती है।

3.3.2 अभाव और मज़दूर वर्ग

तीसरी दुनिया के बहुत सारे देशों से भी संपन्न है, उनपर अधिकार जमानेवाली एक-एक बहुराष्ट्रीय कंपनी। दुनिया में आर्थिक संपन्नता बढ़ाने और समस्तर करने के मूलमंत्र के रूप वैश्विक बाज़ार के एकीकरण को उठाया गया, वास्तव में वह आर्थिक असमानता का पोषक ही सिद्ध हुआ।

बाज़ार ने आम जनता के जीवन ख़र्च को इतना बढ़ा दिया कि वे आमदनी के लिए किसी भी मार्ग अपनाने को तैयार हो जाते हैं। उदार आर्थिक व्यवस्थाएँ, सब्सीडी, ब्याज-दर को घटाना आदि, बडे-बडे व्यवसायियों के हित में हो रहा है और इन सबकी बोझ समाज के विपन्न वर्ग पर ही पड रही है। कुमार अंबुज 'बाज़ार' में अभाव झेलते आम आदमी का परिचय कराते हैं-

"इस वक्त था जूतों की दूकान के शोकेस के सामने

जहाँ लुभावने मॉडल्स के नीचे लिखी थी जोडी की कीमत

सुन्दर सेंडल देखकर याद आए मुझे पत्नी के खुरदरे पाँव

मगर तीन सौ चालीस की पर्ची देखकर

मैंने पास से गुज़रती औरत को ताकना शुरू किया।"[18]

देश के संपन्न वर्ग अपनी पूँजी का निवेश करने के लिए नए-नए स्रोतों की तलाश में हैं, मध्यवर्ग किसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कॉलसेंटरों में अपनी सार्थकता सिद्ध करने की होड में है वहीं गरीब जनता भूख्रों मरते अन्न की तलाश में है। कैलाश वाजपेयी ने सजी-धजी-भरी मण्डी की असली तसवीर प्रस्तुत किया है यहाँ-

"अनाज की मण्डी में
जब फेंके जा रहे थे
बोरे
गेहूँ, चना, अरहर की दाल के
मैंने देख्रा एक बूढ़े कंकाल को
जल्दी-जल्दी गिरे दाने बीनते
मन ही मन मैंने प्रणाम किया
आज के युग के कणाद को।"[19]

बाज़ार की बाहरी चकाचौंध के भीतर गरीबी और अमीरी की दो अतियों का विस्तार ही हो रहा है। आधुनिक युग में वर्ग विभाजन का मुख्य आधार धन रह गया है और श्रमजीवी वर्ग का शोषण पहले से भी ज़्यादा बाज़ार कर रहा है। इसलिए कि कवि इस पुराने सवाल को दोहराने की स्थिति में पहूँच जाते हैं-

"पहले खेत बिके
फिर घर फिर जेवर
फिर बर्तन
अब वो सब किया जो गरीब और अभागे
तब से करते आ रहे हैं जबसे यह दुनिया बनी

इस तरह एक एक कर घर उजडे गाँव उजडे
और नगर महानगर बने
यह दुनिया ऐसी क्यों हैं?"[20]

वैश्वीकरण की विचारधारा के तहत हुए आर्थिक उदारीकरण का ध्यान संपन्न वर्ग अर्थात् बहुराष्ट्रीय कंपनियों, बडे-बडे साम्राज्यवादी आर्थिक शक्तियों तक सीमित और केन्द्रित है। धनशक्ति का इस्तेमाल समाज के गरीबों के हितों की रक्षा के लिए नहीं किया गया। खेतिहर आमदनी को, छोटे व्यापारियों के उद्योगों को मुनाफेदार न ठहराकर आर्थिक व्यवस्था में नीचे धकेल दिये जाने के कारण वे सब आर्थिक उत्पीडन के शिकार बन गए। उदारतावाद की झलक दुनिया के गरीबों तक नहीं पहूँचती। बाज़ार ने 'शहरी गरीब' नामक एक वर्ग की ज़िन्दगी को भी कुचल डाला है। विकास के खतरे को सही अर्थ में महसूस करनेवाले उसको नकार भी न कर सकता बल्कि उसमें शामिल भी नहीं हो पाता। देशी उद्योगों को लील करनेवाली बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ शोषण के नये उपक्रम प्रस्तुत करती हैं। शासन की पक्षधरिता भी अमीर लोगों के साथ जाहिर की गई है। समकालीन साहित्य आर्थिक उदारीकरण में गरीबों की तबाही, बेदखल के प्रतिपक्ष में खडा हुआ है और कविता उनकी आवाज़ बन जाती है।

मज़दूरों का बाज़ार भी अब खुल रहा है। पूरी दुनिया में मानव श्रम का इतना सस्तीकरण हो चुका है कि मालिक उनको मानव नहीं, यंत्र समझकर बैठे हैं। इक्कीसवीं सदी के विज्ञापन सवाल न पूछनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, खराब न होने वाले श्रमिक यंत्रों की ज़रूरत पर बात करते हैं। आर्थिक एकीकरण में देश के कोने-कोने में उगे हुए मज़दूरों के बाज़ार को, उनकी असली नियति को हरिश्चन्द्र पाण्डेय की पंक्तियाँ बारीकी से पेश करती हैं-

"मज़दूर खड़े हैं
समय के साथ नहीं गल रही है ज़मीन
समय के साथ नहीं घिस रही है पूँजी
बस समय के साथ गल रहा है श्रम
कल की बनी हुई डबल रोटी
आज शाम तक पूरे दाम की है
पर सुबह के आठ बज़ते ही
धेले भर का नहीं रह गया मज़दूर।"[21]

सामाजिक पुनर्रचना में अर्थ तत्व को प्रमुखता देकर ही चले जाए तो गरीबी का व्यावहारिक समाधान बिलकुल असंभव ही है। सामाजिक व्यवस्था की असमानता पर कवि कुमार अंबुज रोष व्यक्त करते हैं-

"इतनी ज़्यादा मुश्किलें हैं जिनमें जीवित हैं लोग
करोडों लोग गरीबी के नर्क में हैं
करोडों बच्चे झुलस रहे हैं फैक्ट्रियों में
करोडों स्त्रियाँ जर्जर शोकमय शरीरों में मुस्करा रही हैं
अदृश्य सुखों की प्रतीक्षा में हाड तोड रहे हैं करोडों लोग
जो भी मुश्किलें हैं वे करोडों की गिनती में हैं।"[22]

गरीबी फैलानेवाली भ्रष्ट आर्थिक नीति पर कवि खिल्ली उठाते हैं। आदमी की ज़रूरतों को आसमान तक पहूँचाकर, कृत्रिम महँगाई रचकर एक अभावग्रस्त दुनिया पर अपने धन प्रभुत्व दिखानेवाले साम्राज्यवाद पर कवि इस प्रकार व्यंग्य करते हैं-

"लो अमेरिका ने तुम्हारे लिए एक अंतरिक्ष रोटी बनाई है
इसे खाओ वरना बाज़ार में
तुम्हारी हड्डियाँ दोयम दर्जे की गिनी जाएँगी
पैदा चाहे तुम कहीं भी होंगे
बिकना तो तुम्हें अमेरिका में ही है
दूसरे सौदागर ने कहा कंगाल देश बहुत कुछ
कमा सकते हैं कंगडे कंकाल बेचकर।"[23]

चीज़ों के प्रति इच्छा जगानेवाले बाज़ार में अपनी जेब में भरे पैसे पर आदमी का नाप-तौल किया जाता है और वहाँ आदमी को रोटी की परिधि की बात उठाकर चुप करा देता है। 'अपने हिस्से में लोग आकाश देखते हैं' में विनोदकुमार शुक्ल बाज़ार के अर्थतंत्र की पोल खोल देते हैं-

"बाज़ार में जो दिख रही है
तंदूर में बनती हुई रोटी
सबके हिस्से की बनी हुई रोटी नहीं है।"[24]

बाज़ार में सामान्य आदमी को बार-बार स्वयं गरीब सिद्ध करना पड रहा है, इस नियति पर समकालीन कवि प्रश्न करते हैं। माल बेचने की रणनीति में पीछे हटाये जाने वालों के पक्षधर रहकर अन्याय पूर्ण व्यापारिक संबंध द्वारा कुचल जानेवाले किसान सहित अनेक वर्गों की वाणी बन जाती है कविता।

3.4 पर्यावरण का बाज़ारीकरण

विदेशी मुद्रा कमाने के चक्कर में प्राकृतिक संसाधनों का तेज़ी से दोहन हुआ है और उसी मात्रा में कूडे-कचरे की आमद भी हुई है। प्रकृति को बाज़ार की वस्तु

बना देने के साथ प्रदूषण के ख़तरे से पूरी मानव जाति ध्वस्त हो चुकी भी है। सरकार ज़्यादा से ज़्यादा प्राकृतिक पर्यावासों और बेहद उपजाऊ ज़मीनों को व्यावसायिक उद्यमों के लिए मुहैया कराती जा रही है। निजीकरण के तहत पर्यावरणीय मानकों के हनन या शिथिलता को बढ़ावा मिला है और गरीबों के लिए आवश्यक सामाजिक सेवाओं और वस्तुओं की जमकर उपेक्षा होने लगी है।

प्राकृतिक संसाधनों को घरेलू और विदेशी दोनों तरह की माँगों की पूर्ति के लिए खोल देने की खुली व्यापार व्यवस्था में प्रकृति का इतना दोहन किया गया है कि उसके हर पहलू पर निजी कंपनियों ने पेटेंट ले लिया है। धरती की सारी प्राचीनतम रचनाओं को तोड-मरोडकर अपनी सुविधानुसार रूपांतरित करने की प्रक्रिया में रत वज्रधर इन्द्र की वंशज शक्तियों के सामने पृथ्वी का मतलब मुनाफेदार मिट्टी मात्र है।

वर्तमानकाल मिट्टी पर, पानी पर, हवा पर नदी पर सब कहीं पूँजी के आधिपत्य का समय है। औपनिवेशिक हितों के संरक्षण के लिए प्रकृति के हर हिस्से पर मुनाफेदार बाज़ार स्थापित किया गया है। पर्यावरण मानव की लाभेच्छा के विविधायामी शोषण का शिकार बनता जा रहा है।

3.4.1 मिट्टी का बाज़ार

'बाज़ार लोकतंत्र' रूपी सुन्दर सपने में 'मिट्टी' का बाज़ार रूप बुरी तरह से समाया हुआ है। वर्तमान पारिस्थितिक व्यथाओं में समकालीन कवियों ने मिट्टी के बाज़ारीकरण को प्रमुख स्थान दिया है।व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखे जाने पर पृथ्वी का हर एक कोना लेन-देन को तैयार, बाज़ार के लिए रूपायित कीमती चीज़ है।

दिन प्रतिदिन भूमि प्रयोग में बदलाव आ रहे हैं और इन परियोजनाओं के लिए अक्सर जंगलों और समुद्री तटों की या खेती और चरागाहों की ज़मीनों की ही बलि चढ़ाई जाती है। अयस्क या बॉक्साइट की खुदाई, कोयले की खदानें आदि के नाम पर, आर्थिक विकास के नाम पर हज़ारों एक्टयर ज़मीन को पूरी तरह बंजर और अनुपजाऊ कर देने के खतरे भी मौजूद हैं।

'गंगातट शुरू रात की बेला' कविता में विकास के नाम पर, व्यापार के नाम पर, आधुनिकीकरण के नाम पर धरती की काट-छाँट करके खरीद-बिक्री करनेवालों के प्रति ज्ञानेन्द्रपति ने आक्रोश किया है-

"बहुमंजिली बिल्डिंगों के लिए काट डाले जिन्होंने
पृथ्वी पर के बरगद
उन्होंने हमारे शीश के ऊपर
छोड दी है सप्तर्षि की छाँह।"[25]

एक आखेटक की लालसा मन में भरकर अपने स्वार्थों को तरजीह देनेवाले आधुनिक सभ्य मानव के प्रति कवि ने यह हकीकत दर्ज की है कि अपनी चेतना को जागृत करो। धरती रूपी फल को एक ओर से कीडे और चूहे कुतर रहे हैं तो दूसरी ओर से मानव कुचल रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ मिट्टी बाज़ार में हमारे अस्तित्व पर प्रश्न लगाकर खडी हुई हैं-

"चारों तरफ नव निर्माण की आवाज़ें हैं
और निर्माण केवल बिल्डर कर रहे हैं
बाकी लोग सिर्फ बेच रहे हैं अपनी ज़मीनें

बिल्डर अब घर का विज्ञापन नहीं देते
चेतावनी देते हैं कि आज ले सके तो लो
कल से तुम सिर्फ बेघर रहोगे।"[26]

पृथ्वी पर निजी अतिक्रमण की कवि कुमार अंबुज यही चेतावनी दे रहे हैं। हम अपनी प्रकृति को बाज़ार में बेच देते हैं और बेघर-बेज़मीन बनकर घूमते-फिरते हैं। मिट्टी का बाज़ार आज सबसे विस्तृत और लुभावना है, असीमित संभावनाओं से युक्त है। 'यह महज संयोग है' नामक भगवत रावत की कविता इस सच्चाई को पेश करती हैं-

"उनके नक्शों पर
पृथ्वी और आकाश के बीच जो भी जगह ख़ाली है
उसके प्लाट्स काटे जा चुके हैं और
उनपर ताले डाले चुके हैं।"[27]

अपनी प्रकृति हाथों से छीन लेने के गवाही बनकर हम आदिवासियों की भाँति दारुण अकिंचनता में विलाप कर रहे हैं कि यह सूरज, चन्द्रमा, आकाश, वायु जल और धरती हमारी है। हमारी पारिस्थितिक चेतना, सजगता और सोच-समझ की क्षमता को कुंद करने में भी नव-निर्माण के ठेकेदार कुशल हैं। उपयोगितावाद के सिद्धान्त के अंतर्गत आजकल प्रकृति को भी बुरी तरह से समेटा गया है। रामदरश मिश्र की पंक्तियाँ हमें इस यथार्थ के काफी पास पहूँचाती हैं-

"ख़ाली पडा है प्लाट मेरे मकान के बगल में
व्यापारी मालिक न इसे बेचता है

न मकान बनवाता है

इंतज़ार कर रहा है कीमत और....

और बढ़ने की।"[28]

अतः मिट्टी नव पूँजीवाद का शोषण केन्द्र बन गया है। 'उस पार के लिए' कविता में प्रकृति को शोषणतंत्र में फँसानेवाले विकास के दौर के प्रति ज्ञानेन्द्रपति अपनी अनिच्छा व्यक्त करते हैं और मिट्टी के पक्ष में अपना स्वर बुलन्द करते हैं। अब आकाश का सारा ऑक्सिजन काले धन की गोरी दिखायी जानेवाली बाँहों में बाँधा हुआ है। बहुमंजिली इमारतों में सर्वशोषक और आत्मपोषक सत्ता की असीम भोगाकांक्षा ही साकार हो उठा है। यह शोषण तंत्र सागरतट, नदीतट और सडकतट की मिट्टी पर अपना खुला बाज़ार स्थापित करता है और सबको मोहित करता है कि यही विकास का निशान है।

अपनी मिट्टी में किरायेदार बनने की आत्मघातक प्रवृत्ति में सरकार भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ रह जाती है। इसके प्रतिरोध का आह्वान करके निर्मला पुतुल बताती है-

"हमारी सरकार हमसे

हमारी ज़मीन छीनकर

विदेशी कंपनियों को उपलब्ध करा रही है

हम चुप हैं।"[29]

ज़रूरत है इस चुप्पी को भेदने की। बेघर-बेज़मीन तडपनेवाली एक पीढ़ी के सामने, अपनी मिट्टी को हडपनेवाले नव-बाज़ार से लडने के उपाय बहुत ही दुर्बल

क्यों न हो, उन्हें पूरी ताकत से अपनाना ही पडेगा। नहीं तो हम अपनी ज़मीन से फेंके जाएँगे।

3.4.2 नदी और पानी का बाज़ार

प्रकृति की लूट-खसोट का अब बाज़ार में सबसे ज़्यादा मुनाफा मिल सकता है। निजीकृत पर्यावरण में पानी और नदी का आर्थिक पक्ष इतना विस्तृत हो चुका है कि ये सबसे कम पूँजी निवेश करके सबसे ज़्यादा लाभ पहूँचानेवाली व्यावसायिक चीज़ें बन गई हैं। नदी को, पानी को जीवन का आधार माना जाता था, आज भी अपनी बाज़ारीकृत व्याख्या में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के व्यापार की मूलभूत पूँजी के रुप में, उनके व्यवसाय का आधार बन गये हैं वे, बाज़ारीकरण के परिव्यापन के उत्तम नमूने बन गये हैं।

मुफ्त में बरसनेवाले पानी पर एकाधिकार जमाकर बोतल बंद करके हमें ही खरीदवाने की आधुनिक तकनीकों का विरोध वर्तमान माँग बन गया है। प्रकृति को अर्थ पैदा करनेवाले औजार के रुप में तब्दील कर दिया गया है। पानी के बाज़ार की असीम संभावनाओं को एकान्त श्रीवास्तव की कविता 'ठण्डे पानी की मशीन' व्यक्त करती है। आम जनता को अपनी प्रकृति से वंचित रहना पडता है, अब तक उनपर बेमोल बरसती वर्षा भी रुपयों में बिकने-खरीदनेवाली निरी चीज़ बन चुकी है। हमारी विवशता प्यास बनकर हार जाती है तो पानी की लेन-देने सबसे मुनाफेदार उद्योग है। अर्थ पर बुरी तरह आधृत जैविक प्रक्रियाओं की भयावह वर्तमान परेशानी को प्रस्तुत पंक्तियाँ सूचित करती हैं-

"अगर आपके पास पचास पैसे हैं
तो आप एक गिलास ठण्डा पानी पी सकते हैं।"[30]

कवि इस यथार्थ को उजागर करते हैं कि अब तक हमें अपनी भूख से लडना पडता था और अब प्यास से भी लडने की हालात आ पहूँची है। तीसरी दुनिया के देशों पर अमरीकी सभ्यता का वर्चस्व थोपे जाने में शासक वर्ग भी शामिल हो जाते हैं। सामरिक महत्व और देश का विकास समझाकर 'प्रौद्योगिकी का बुख्रार' फैलाया जा रहा है। कैलाश वाजपेयी जी की पंक्तियाँ हैं-

"नदियों की कमर तोडकर
पोख्रर किए दे रही
पानी का पानीपन।"[31]

प्रकृति पर एक अजब तरीके का उपभोग दबाव चल रहा है। पानी का पानीपन चुराकर बाज़ार में बिका जा रहा है।

मदन कश्यप की कविता 'चाहतें' पारिस्थितिकीय ध्वंस और उथल-पुथल के चतुर तरीके अपनानेवाले नव साम्राज्यवाद पर व्यंग्य करती है। वे पेडों को काटना नहीं चाहते, उनका हरापन चूस लेना चाहते हैं। वे पहाडों को रौंदना नहीं चाहते, उनकी दृढ़ता निचोड लेना चाहते है, वे नदियों को पाटना नहीं चाहते, उनके प्रवाह रोक देना चाहते हैं, तो कवि पूछते हैं कि अगर उनकी चाहतें असल में पूरी हो जाती तो यह दुनिया कैसे लग जाएगी।

नदी और उसके तट से जुडकर पनपनेवाली मानव संस्कृति को बाज़ार में ख्रडा करके उसके सह-अस्तित्व को चकनाचूर करा दिया गया है। ज्ञानेन्द्रपति की कविताएँ 'नदी और साबुन', 'नदी और नगर' इस सच्चाई पर केन्द्रित है। संस्कृति का बाज़ारीकरण नदी और पानी को भी धनलिप्सा के शिकार बना देता है। यात्राओं

के लिए निकलते वक्त बोतलबन्द पानी पीने की विवशता एक कवि को सताती है तो उसके पीछे छिपे आर्थिक-वाणिज्यिक दृष्टियों को कवि लीलाधर मंडलोई पहचानते हैं-

"दुनिया भरने लगी बोतलबन्द पानियों से
कि इसमें इतना अधिक मुनाफा
और सब विकल्पहीन इतने।"[32]

बहुराष्ट्रीय सेठों ने बोतलों में बन्द पाती की ज़रूरत को इतना बढ़ाकर एक विकल्पहीन नियति को मानव पर थोपा दिया है। दुर्लभ बनाकर कीमत चढाने का अर्थतंत्र यहाँ लागू होता है। पानी और वायु ऐसी चीज़ें है जिनकी भरपाई अन्य किसी भी चीज़ से न कर पाते हैं। अतः कवि बताते है कि पानी और वायु को मुट्ठी में बाँधने की बहुराष्ट्रीय कॉरपरेट ताकतों की सारी कोशिशों का कडा विरोध करना वर्तमान की सबसे बडी माँग है। 1999 में बोलीविया के कोचबाबा नामक गाँव में पानी के निजीकरण के विरुद्ध लोक जागरण और क्रांति की जीत, तीसरी दुनिया के सारे देशों के लिए अब अनुकरणीय बन गई है, अनिवार्य बन गई है। नहीं तो हमारी कमज़ोरी का पूरा लाभ उठाकर ज़मीन और पानी पर पूर्ण अधिकार बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हासिल कर लेंगी।

'नदी-संवाद' में मदन कश्यप नदी के सौदागरों की ओर से मॉफी माँग रहे हैं-

"माफ करना मइया
वे जो है समय के सौदागर
तुम्हें ही नहीं हमें भी बाँधना चाहते हैं

अपनी क्रूर हवस से चौख़टे में
रौंद देना चाहते हैं
सदियों के हमारे सह अस्तित्व में।"[33]

पानी 'बेसलरी' बोतलों में बाज़ार में उपलब्ध होकर भी, हमारे टेबलों पर गुलदस्ते की जगह सज जाकर भी, बाज़ार में घूमकर प्यास बुझाने को पेप्सी पानी से ज़्यादा काम आता है। निर्मला पुतुल इस विचित्र नियति पर शर्म व्यक्त करती है-

"यह कहते हुए
शर्मिन्दा महसूस कर रही हूँ
कि बाज़ार में घूमते
जब प्यास लगती है
तो पानी से ज़्यादा
पेप्सी और स्प्राइट की तलब होती है।"[34]

बाज़ार की व्यवस्था में क्रयशक्ति के विहीन मानव निहत्थे पड जाते हैं। अतः ज़माना आ गया है कि अगर आपके पास पैसे है तो आप पानी पी सकते है, साँस ले सकते हैं, अतः जीवित रह सकते हैं। प्रकृति की जीवनी-शक्ति को, पानी को, जीवन और मृत्यु के बीच के विकल्प के रूप में बाज़ार ने हमारे सामने लाकर खडा कर दिया है। नदी पर स्थापित होनेवाले निजी साइन बोर्ड, कल तक माँ कहलानेवाली एक सभ्यता के ऊपर लगाये गये घुसपैठ का सूचक है। 'प्राइवेट-प्रोपर्टी- कीप ऑफ' के बोर्ड नदी की सामाजिकता से आम जनता को धकेल देने का दिग्दर्शक है। विनोद बिहारी लाल की पंक्तियाँ इस भीषण यथार्थ को अपने में समेटती हैं-

"कितने हैरान है विकास-गुरु-आज तक
क्यों नहीं देख पाए हम इस नदी में निहित
निस्सीम संभावनाएँ विकास की
हम यहाँ डेवलेप करेंगे एक वाटरपार्क
एक बोटिंग लेक
एक यॉटिंग लेक
बरसेगा सोना यहाँ
नदी गोल्डन माइन है
पब्लिक को पानी मिलेगा- सब्सीडी के साथ।"[35]

इको टूरिज़्म की सुवर्ण संभावनाएँ, नदी में बाज़ार बसाने की योजनाएँ विकास की, प्रगति की नई परियोजनाओं की देन हैं। सार्वजनिकता के गुण से नदी किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी की निजी संपत्ति में परिणत हो चुकी है तो आम जनता को सब्सीडी के साथ उसके पानी का उपयोग करने की शर्त है।

धरती पहले एक घर थी लेकिन अब मकान में बदल गई है। अतः पृथ्वी में नव-निर्माण के ठेकेदार 'बिल्डर्स' अपने सारे काम रक्षकों की भाँति कर रहे है, जिनकी दृष्टि में 'रेत का बाज़ार' है नदी। उत्पादन खर्च के बिना लाभ पहूँचानेवाला माल है। 'रेत के द्वीप पसर आए है' में ज्ञानेन्द्रपति कहते हैं कि आज गंगा नदी के उर तक रेत भर आई है। अर्थात् पानी का पानीपन नष्ट हो चुका है। एक नदी का रेत के द्वीप बन जाने से बिल्डर्स और बिल्डिंग मैटीरियल के विक्रेता खुश हो जाएँगे। एक एक होकर देश की सारी नदियाँ, रेत ही रेत बन गई हैं और उसकी माँग बाज़ार में सबसे अधिक है।

विश्व बैक की व्यापारिक गतिविधियों में प्राकृतिक संसाधनों को भी शामिल करके व्यापार के नए इतिहास रचे जा रहे हैं।

दुनिया की सारी चीज़ों को एक मॉल में उपलब्ध कराके हमारी वाणिज्यिक नीति पनप रही है तो इसके निर्माण हेतु विलुप्त हुई पृथ्वी की जीवंतता की याद में कवि दुःखी हो जाते है। सुमीता केशवा की पंक्तियाँ हैं-

"यहाँ हरी-भरी फसलें थीं लहलहाती हुई
यहाँ तालाब और कुएँ थे लबालब भरे हुए
यहाँ वृक्ष ही वृक्ष थे अनगिनत किस्मों के बेहतरीन
यहाँ हवा थी ऊर्जा और ताज़गी में भरी हुई
अब यहाँ एक बहुमंजिली दूकान है शानदार
जिसके बाहर मैं खडा हूँ भीतर घुसने के लिए।"[36]

वन प्रजातियों के विलुप्त होने, जंगलों के दिन-ब-दिन शुष्क होने की भीषणता ज्ञानेन्द्रपति की 'टेडी बियर में बचे हुए भालू', 'गजदन्त धूमगज', 'नजातदिहन्दा' जैसी कविताओं में व्यक्त की गई है। आधुनिक बच्चे जंगली-बर्फानी प्रदेशों के भालू का अस्तित्व बाज़ार में मिलते टेडी बियर में पहचानते हैं। गजदन्त तस्करी और बाज़ार में उसकी सौदागरी के कारण होनेवाले हाथियों के उन्मूलन 'गजदन्त धूमगज' में कवि के विरोध का विषय बन गया है। यौनोत्तेजना पैदा करनेवाली दवाएँ बनाने के लिए कछुओं के मारे जाने के प्रति आक्रोश 'नजातदिहन्दा' में है। बाज़ारोपयोगी मानसिकता में जीव-अजीव भेद न रहकर केवल व्यापारी मंतव्य रहता है। धरती पर एकाधिकार जमाकर उसका जीवन रस चूसकर, बाज़ार में लेन-देन करनेवाले मानव अन्य जीव-जन्तुओं का जीने का अधिकार भी बेहिचक छीन लेते हैं।

जगह-जगह में प्राणवायु के, एक बूँद पानी के माँगनेवाले बढ़ रहे हैं तो दूसरी तरफ उनको बेचनेवाले सौदागरों की तादाद भी बढ़ रही है। लीलाधर जगूडी बताते हैं कि विश्व बैंक की दूकानदारी में सौर-ऊर्जा, पानी, हवा सब कुछ शामिल है और प्रलयों के बाद भी पुनः जीवित पृथ्वी,आज व्यापारिक प्रलयों में एक न एक रूप में ख़रीदी और बेची जा रही है। लीलाधर मण्डलोई दिन प्रतिदिन ऑक्सिजन घटती जानेवाली इस दुनिया में शब्दों की साँस को साफ बनाना कवि का दायित्व समझते हैं और प्रकृति-प्रतिबद्धता पर ज़ोर देकर बताते हैं-

"अपनी धरती अपना पानी अपनी हवा
सब के सब बेच दिये जाने की साजिशें ये
छीन लिए जाने के जो और ड्रामे है छुपे
उनमें खेती है फसले हैं हाथ और निवाले
क्यूँ बैठे हो हुए कैद और जैसे बेजुबान
निकलो तन्हाइयों की धुँध से आगे उधर
खुले मैदान की तरफ कि उधर
देखो एक दीवाना कबीर है कि जो सच बोल रहा।"[37]

बढ़ते हुए प्रदूषण से परेशान होकर पर्यावरण सजगता की ज़रूरत सबसे ज़्यादा महसूस होनेवाले समय में समकालीन कवि पर्यावरण के प्रति मानव की उदासीनता को रेखांकित करने के साथ साथ बाज़ार की परिधि को संतुलित कराने की माँग भी करते हैं। प्रेमशंकर शुक्ल की 'पानी का मतलब', लीलाधर जगूडी की 'परिवर्तन', पंकज राग की 'ज़मीन आसमान', कैलाश वाजपेयी की 'जंगल की आवाज़' अरुण कमल की 'रेल में बात', महेश संतोषी की 'गाँव न मर जाए',

'शहर की हत्या' जैसी अनेक कविताएँ पर्यावरण में अकूत मुनाफे की चाहत को लेकर नव साम्राज्यवाद द्वारा चालित बाज़ारीकरण को नकारा गया है। कवि यह गनीमत बाँट देते हैं कि बिना पैसा लिए पानी पिला देनेवाले अभी कभी कहीं बचे हुए हैं। सडकों पर पैदल चलने का भाडा अभी तक नहीं मांगा गया है और शहरी घरों में मुश्किल से आ पानेवाली धूप पर कोई टैक्स अभी तक नहीं है। बिना पैसा दिये समुद्र को छूना और सूर्योदय और सूर्यास्त को देखना आज गनीमत की बात ही है। मदन कश्यप की पंक्तियाँ हैं-

"गनीमत है
कि पृथ्वी पर अब भी हवा है
और हवा मुफ्त है।"[38]

समीप भविष्य में ये सब असंभव हो जाने की आशंका भी कवि की वाणी में भरी हुई है। धरती की नमी शुष्क करने के पीछे सिर्फ मुनाफे की असीम चिन्ता है, जिसे बाज़ार सदा जगाता-जलाता रहता है। 'पृथ्वी दिवस-1991' कविता में कवि यह उम्मीद भर देते हैं कि चाहे बाज़ार की आकांक्षाएँ ओज़ोन की रक्षा परत छेद रही हैं, ऐषणाएँ पर्वतों की छतियाँ रौंद रही हैं, सारी नदियों का स्वच्छ जल गायब करा देती है, पूरी वसुधा की हरियाली को स्वार्थ-लिप्सा निगल जाती है तो भी-

"वे बार-बार चुराएँगे
फिर भी बची रहेगी धूप
वे छुपाएँगे रोशनी
फिर भी दिखेंगी राहें।"[39]

समकालीन कवि पहचानते हैं कि जिसे हम विकास के नाम पर अभिहीत करते हैं वह वास्तव में पूँजीपतियों के हौसलों की उडान है। सबसे पहले पृथ्वी को उन ठेकेदारों से बचाना है जो पर्यावरण को अपनी हविस के लिए बचा रखते हैं।

3.5 बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के नाम से चर्चित शक्तिशाली संस्थाएँ आजकल दुनिया की जीवनशैली की निर्णायक ताकत बन गई हैं। ये राष्ट्रीय सीमाओं को नज़रअन्दाज़ करके दुनिया को एक आर्थिक इकाई के रूप में देखती है। "नब्बे के दशक में 'उदारीकरण' जैसे पद के अंतर्गत अर्थव्यवस्था में एकएक उलटफेर करते हुए, बहुराष्ट्रीय निगम तथा उनकी अपार पूँजी के प्रवाह के लिए भारत में जगह बनानी शुरू कर दी गई।"[40] प्रभु जोशी का उपरोक्त कथन देश में बहुराष्ट्रीय आर्थिक पद्धति के रूपायन की शुरूआत की सूचना देता है। हमारे दैनिक जीवन के उपयोगी छोटी चीज़ों से शुरू होकर इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों की पहूँच बैंक और बीमा कंपनियों को भी अपने में समेट करती है। हमारी पूरी ज़िन्दगी उन्हीं द्वारा उत्पादित सामग्रियों की खरीद और उपयोग के लिए समर्पित है। अतः बहुराष्ट्रीय कंपनियों का रुतबा हमारी राजनीति, अर्थनीति और हमारी राष्ट्रीय नीतियों को भी अपने स्वार्थ के मुताबिक बदल देता है, देश की अर्थनीति को पूरी तरह से नियंत्रित रखता है। वैश्विक अर्थव्यवस्था की लगाम उन कंपनियों के हाथों में रहती है।

आंकडे सूचित करते हैं कि विश्व के सबसे बडे पाँच सौ बहुराष्ट्रीय निगमों का विश्व-व्यापार के दो-तिहाई हिस्से पर कब्जा है और यह व्यापारिक लेन-देन उनकी सहायक फर्मों के बीच चलती है। दुनिया के समग्र प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का एक-तिहाई सबसे बडे सौ निगमों द्वारा किया गया है। कुछ मल्टिनेशनल कंपनियों की

बिक्री और संपत्ति दुनिया के कुछ देशों के उत्पादन-बिक्री और आय-संपत्ति से दुगुना-तिगुना है। ज़्यादतर बडे बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मुख्यालय उत्तरी अमरीका, जापान और पश्चिमी यूरोप में स्थित है। पिछले दो दशकों से तीसरी दुनिया के विकासशील कहे जानेवाले देशों की बडी कंपनियाँ भी कुछ क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय स्वरूप धारण करने लगी है।

बहुराष्ट्रीय निगम एक भ्रमोत्पादक अभिव्यक्ति भी है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि इन कंपनियों का प्रबंधन और शेयर पूँजी के स्वामित्व का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इन निगमों की ज़्यादतर गतिविधियाँ राष्ट्रों के बीच न होकर किसी न किसी राष्ट्र की भू-क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर ही चलती हैं।

सबसे पहले इन कंपनियों ने कम औद्योगीकृत देशों में अपना निवेश बढ़ाया जिनकी अर्थव्यवस्थाएँ निवेश-अंतराल की समस्या से जूझ रही थी। कर्ज के दबे होने के कारण उन्हें उत्तरोत्तर विदेशी मुद्रा की सख्त ज़रूरत थी। इसलिए इन देशों को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सलाहों के मुताबिक ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम लागू करने पडे, निजी पूँजी को ज़्यादा छूट देनी पडी और अपने-अपने सार्वजनिक क्षेत्रों को औने-पौने दामों में निजीकरण करना पडा। समाजवाद और आत्मनिर्भर विकास के मॉडल का आकर्षण कमज़ोर हो जाने के कारण ये देश बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आशाभरी निगाहों से देखने लगे। इस परिस्थिति का फायदा उठाकर इन निगमों के तरफदारों ने उन्हें आधुनिकीकरण और समृद्धि के वाहक के रूप में पेश करना शुरू किया। गरीब देशों की आर्थिक प्रगति की चालक शक्ति के रूप में इनका संचालन हुआ।

अर्थ पर केन्द्रित होने के कारण अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन करना, गैर कानूनी गतिविधियाँ करना, मानवाधिकारों का अनदेखा करना, अविकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं का शोषण करना और अधिकाधिक मुनाफा कमाना और पर्यावरण की बलि चढ़ाना इन कंपनियों की आदत पड गई तो इनका विरोध भी शुरू हुआ।

कंपनी के भीतर होनेवाले व्यापार में ट्रांसफर प्राइसिंग के द्वारा बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ आयकर और विभिन्न वाणिज्यिक करों से बच जाती है। उन देशों के कर कानूनों को धोखा देना इनके लिए आसान हो जाता है, जिस देश में ट्रेक्स अधिक होता है वहाँ से माल अपनी सहायक कंपनी को दूसरे देश में उँचे दामों पर बेचना दिखा दिया जाता है।

समकालीन कवि अर्थव्यवस्था के लिए एक स्वाभाविक तथ्य बन चुकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की गतिविधियों पर आशंका प्रकट करते हैं। वे मानते हैं कि देश में बहुराष्ट्रीय निगमों का भरपूर स्वागत करना औद्योगिक गतिविधियों के दायरे और विदेशी स्वामित्व को अपनाने का काम होगा। फेरा कानून की वजह से खेती के विभिन्न रूपों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का निवेश और हस्तक्षेप देश की अर्थव्यवस्था की कमर तोड देगा। ज्ञानेन्द्रपति सूचित करते हैं कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों का राज आज देश के उपजाऊपन को निरर्थक छोडता है। देश, खाद्यान्न को डिब्बाबद्ध करनेवाली कंपनियों का चरागाह बनकर पूरी खेती को अनुत्पादक ठहराने की स्थिति में पहूँच गया है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ बाज़ारीकरण के बडे सशक्त वित्तीय उपकरण हैं। नव-उपनिवेशवादी मंसूबों को पूरी करनेवाली संरचनाओं में अग्रणी हैं। अपने उत्पादों के

ज़रिए कंपनियाँ हमारे घर के भीतर घुस चुकी है जिसके पीछे आर्थिक दृष्टि से हमारी प्रगति करने का झूठा दावा है। इन बहुराष्ट्रीय उत्पादों के सामने देशी उत्पादों का स्तर नीचा करके देश की आत्मनिर्भरता पर चोट लगायी जाती है।

एक ओर तो आधुनिक तकनीकी का प्रयोग करके बडे पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन और ख़रीद-फरोख्त करके उत्पाद को बेहत्तर और सस्ता सिद्ध कर दिया तो दूसरी ओर बडे-बडे मॉल्स, विपणन-केन्द्रों तथा वातानुकूलित बिक्री सहायकों के आर्थिक प्रबंधन के अंतर्गत ग्राहक पटाने का काम भी सफलतापूर्वक करता रहता है। रामदरश मिश्र की कविता विश्वग्राम इसी तंत्र का पोल खोल देती हैं-

"तभी दरवाजे पर खटखटाहट हुई
देखा-कोई सेल्समैन था
वह किसी कंपनी के उन नए सामानों को
मेरे घर पर लादने की जिद में था
जिनकी कोई ज़रूरत नहीं थी।"[41]

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ बहुत से देशों से ज़्यादा ताकतवार और समर्थ संपन्न हैं। इन कंपनियों ने अपने व्यावसायिक हितों के लिए राष्ट्रीय सीमाओं को पारकर अनेक देशों में अपना विस्तार और प्रभुत्व बढ़ाया है। देशों में ये कंपनियाँ एक नया बाज़ार कायम करती हैं और उसी के भीतर काम करती हैं। वे भली भाँति जानती हैं कि उत्पादन, प्रबंधन, वितरण, बिक्री और माल के प्रचार-प्रसार कैसे हो। विश्वगाँव का सबल प्रवक्ता बनकर बहुराष्ट्रीयता के प्रचारक कंपनियाँ देश की चेतना को, प्रतिक्रिया को सबल हथियारों द्वारा दबा देती हैं। अपनी कविता 'जय बाज़ार' में दिनेश कुमार शुक्ल बताते हैं कि मुक्त बाज़ार में मुक्ति बेचती, उदारता का व्यापार करती कंपनियों

के धारदार हथियार है बाज़ार और थोडा होशियार बनकर इनकी चालाकियों से सावधान हो जाने का वक्त आ गया है।

एक अजब तरीके से आदमी को चुपचाप गुलाम बना देने की प्रक्रिया में अपनी संपन्नता उन्हें सहायक सिद्ध होती है। दुनिया की आर्थिक व्यवस्था की संचालक शक्ति उन्हीं के पास है तो-

"आपकी पसन्द
वे तय करते हैं
जिनके पास उपकरणों का कायाबल
विज्ञापनों का मायाबल
आपकी आज़ादी पसन्द है उन्हें
चीज़ों का गुलाम बनने की आज़ादी।"[42]

नवउदारतावाद के बल ये हमारी आत्मा तक का शिकार करते हैं। समय की पहचान से गुज़रते कवि भगवत रावत बहुराष्ट्रीय उत्पादों के एकाधिकार पर, सब कहीं बाज़ार के सूचक बढे जाने पर आशंका व्यक्त करते हुए लिखते हैं-

"वह दिन दूर नहीं जब हिमालय की बर्फीली चट्टानों पर
बडे-बडे अक्षरों में लिखे जाएँगे उन शीतल पेयों के नाम
जिनके एक-एक विज्ञापन पर करोडों-करोड
पानी की तरह बहा दिए जाते हैं
कोई यह नहीं पूछता कि कैसे, कब और क्यों
खेतों में पानी नहीं पहूँचा और मोबाइल पहूँच गया
राष्ट्रीय शोक जैसा राष्ट्रीय शर्म का विषय
और क्या हो सकता है।"[43]

देश की अर्थव्यवस्था को अमरीका जैसे साम्राज्यवादी देशों के शोषण के लिए सौंपा देकर देश में बहुराष्ट्रीय केपनियों के स्वागतपत्र में हस्ताक्षर करनेवाले शासकों के प्रति कवि क्षोभ व्यक्त करते हैं। राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता के बीच चलनेवाले बहुरूपिया नाटक के पर्दे उठाकर ज्ञानेन्द्रपति शोर मचाते हैं-

"हथियार अनेक है उनके पास
वे ही नहीं जिन्हें प्रतिबंधित करने की
उदार इकतरफा घोषणाओं पर
हस्ताक्षर करते हैं वे
कैमरों के योग्य चकाचौंधी उजाले में।"[44]

समकालीन कविता की भावभूमि देश को निजीकृत करते षड्यंत्रों के विरोध में फैल जाती है। कवि बताते हैं कि आलू को चिप्स में बदलकर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ पैकटबन्द ख्राद्य निर्माता, नवयुग के अन्नदाता बन जाती हैं और देशी अर्थव्यवस्था को पारदर्शी प्लास्टिक कारागार में भरकर लाभ-लोभ के सर्वग्रासी जबडों के बीच लपलपाती जीभ को रुचिकर रूप में सौप देती हैं।

ये बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने आप में संपूर्ण बन पाने की दौड में मानवाधिकारों का हनन और पर्यावरण का दोहन इतने सहज रूप से करती आती हैं कि ये सब विकास के स्वाभाविक परिणाम हैं। भारत में यूनियन कारबाइड नामक अमरीकी बहुराष्ट्रीय कंपनी के कारख्राने से रिसी ज़हरीली गैस ने भोपाल में करीब चार हज़ार लोगों को जीवन भर के लिए बीमार कर दिया तो कंपनी की प्रतिक्रिया इस अमानवीयता का सूचक है। कंपनियाँ अमरीकीकरण का मॉडल अपनाकर गरीब देशों को कुचल देना चाहती हैं। मदन कश्यप की पंक्तियाँ हैं-

"सिर ऊपर उठाकर दुनिया को देखो
जहाँ जहाँ गूँजती है उत्पीडितों की चीख
जहाँ जहाँ हँसता है तानाशाह
जहाँ जहाँ लोग है बेहाल
जहाँ जहाँ है भोपाल
वहाँ वहाँ है अमरीका।"[45]

देश देश में विस्तृति पा रही बहुराष्ट्रीय निगमों की आर्थिक पद्धति पर आलमदार नीहार यों टिप्पणी करते हैं- "बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ तेज़ी से पूँजी निवेश कर रही है। तीसरी दुनिया के देशों में मुख्य रूप से भारत एक बहुत बडे बाज़ार के रूप में उन्हें दिखाई दे रहा है और इसके लिए धीरे-धीरे अधिसंख्यक मध्यवर्ग को अधिकाधिक लालची तथा मक्कार बनाया जा रहा है।"[46] बैंकों का बहुराष्ट्रीय रूप भी उगता जा रहा है। विकसित राष्ट्रों के बहुराष्ट्रीय बैंक विकासशील देशों में अपने हिसाब से काम करते हैं। भूमण्डलीकृत युग के बैंकों की कार्यप्रणाली को मंगलेश डबराल ने बेहद बारीकी से लक्षित किया है-

"नया बैंक सिर्फ दिये जानेवाले कर्ज
और लिये जानेवाले ब्याज का हिसाब रखता है
प्रोसेसिंग शुल्क मासिक किस्त चक्रवृद्धि ब्याज
लेट पेमेंट चार्जेस और पैनेल्टी वसूलता है
और एक जासूस की तरह देखता रहता है कि
कौन अमीर हो रहा है।"[47]

विदेशी निवेश की चाही सरकार द्वारा देश भर के धन-दिमाग बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सौंपा दिया गया है। आम जनता को कर्ज में डुबाकर अपने सर्वस्व को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में गिरवी रखकर, राष्ट्रीयता खोकर, अमरीकी कंपनियों के इंगित में चालित होने की सच्चाई से लीलाधर मंडलोई की कविता 'मैं इतना अपढ़ जितनी सरकार' टकराती है-

"चाहते हैं वे इतना कि उठाऊँ
एक निवाला रोटी का और
डूब जाऊँ उनके कर्ज में
पियूँ जब एक घूँट जल भी
बहने लगे 'नर्मदा' उनके इशारे पर।"[48]

इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा ही बाज़ार का अस्तित्व मज़बूत हो जाता है। भूमण्डलीकरण के नाम पर व्यापार की अजीब दुनिया खोल देकर चमचमाती चीज़ों का जीवन पर हावी कर देना इनका लक्ष्य रहता है। अतः शंभुनाथ का कथन उल्लेखनीय होता है- "बाज़ारवाद का मकसद सिर्फ माल और सेवाएँ बेचना नहीं है, एक ऐसी भिन्न दुनिया के लिए इच्छा जगाना भी हैं, जो वस्तुतः सामाजिक बदलाव और साम्य के लिए संघर्ष कर रहे लोगों के द्वारा नहीं लाई जाएगी, बल्कि टेक्नोलॅजी के नए-नए आविष्कारों और एक के बाद एक नई लहर की व्यापारिक कंपनियों द्वारा अस्तित्व में आएगी।"[49]

बहुराष्ट्रीय निगमों की पहूँच शिक्षा से लेकर पानी तक पहूँच गई है तो निजीकृत दुनिया में सरकार का मतलब क्या रह गया है, कवि अरुण कमल की पंक्तियाँ वर्तमान को अधोरेखित करती हैं-

"ज्ञान सर्व सुलभ था, शिक्षा स्वतंत्र थी हर विद्यार्थी पर कर्ज था
राशन की दूकानें पहले ही उठ गई थी
घासलेट पेट्रौल से भी महँगा था
सरकारी नलों में पानी नहीं हवा भरी थी।"[50]

देशी संस्कृति और संपत्ति पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की नज़र को व्यक्त करनेवाली कुमार अंबुज की कविता है 'आयुर्वेद'। सभ्यता के उत्तर औद्योगिक समुद्र में जैसे पर्यावरण डूब रहा है उसी तरह आयुर्वेद भी अपने को डुबाता रहता है। ऐसी विवशता बढ़ रही है कि चार रुपए का आँवला सौ रुपए में बिका जा रहा है। देश की पैतृक संपत्ति अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों में है।

प्राकृतिक संपदा को महंगे दामों में बेचने का एकाधिकार उदारीकरण की नीतियों ने कंपनियों को दिया है। इसी का फायदा उठाकर आयुर्वेद का स्वत्व लेकर उच्चतर चिकित्सा विज्ञान को मुनाफेदार व्यवसाय बनाया जा रहा है। मुक्त बाज़ार ने उनके लिए हज़ारों द्वार खोलकर रखे हैं। देशी संपदा में विदेशी पूँजी के प्रभुत्वशाली हस्तक्षेप पर कवि की प्रतिक्रिया है 'आयुर्वेद'। बहुराष्ट्रीय निगमों ने ग्लोबल संस्कृति के विभिन्न संरचनाओं और रूपों को प्रायोजित करने के ज़रिए उपभोक्ता क्रांति की प्रक्रिया के साथ उसे अनिवार्य रूप से जोड दिया। विज्ञापन और कामनाओं का सौन्दर्यमूलक संसार चेतना के ऊपर हावी होने लगा। इस दौर में कवि प्रतिरोध के स्वदेशी तरीके पर ज़ोर देते है। 'सबक' कविता में निलय उपाध्याय की पंक्तियाँ हैं-

"वे बनाएँगे महँगे सामान
हम नहीं खरीदेंगे

वे तय करेंगे सदी का रास्ता
हम नहीं चलेंगे
मोहक विज्ञापनों का असर नहीं होगा हम पर
एक मुट्ठी अन्न
रोज कम खाएँगे और बचाएँगे बीज।"[51]

पत्थर के पेड की तरह देश की अर्थव्यवस्था पर जडें जमाकर सिंहासन पर आसीन उत्तर साम्राज्यवादी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को देश की मिट्टी से काट डालने का एकमात्र उपाय स्वदेशीकरण ही है। इन्हीं जडों को उघाडने का काम उतना आसान नहीं है। तो भी प्रतिरोध करना ज़िन्दा रहने का मुहावरा है। कवि मुकेश मानस बताते हैं-

"दुश्मन हवा जाल फैलाये
फिर भी उसको रोक न पाए
हवा से लडती उडी पतंग
फर-फर करती उडी पतंग।"[52]

3.6 बाज़ार में नारी

मुक्त बाज़ार भोग को उन्मुक्त करने के तत्व पर आधृत होता है तो बिकाऊ सभ्यता में नारी सौन्दर्य भी अकूत मुनाफा कमाने का माध्यम बन गया। सुन्दरता के इस्तेमाल का वैश्विक आयाम पर्यटन और मनोरंजन उद्योगों के नाम पर औरतों के निर्यात के लिए प्रोत्साहन दिया गया। स्त्री सौन्दर्य का भी एक नया आयाम बहुराष्ट्रीय निगमीय दुनिया प्रस्तुत करती है वहाँ अच्छी तरह से बनायी और सजायी

गई नारी देह बाज़ार में लाभकारी माल है, उसकी बिक्री लगातार होती रहती है। भूमण्डलीकरण ने एक ओर नारी को आर्थिक स्वतंत्रता के रास्ते खोल दिये तो दूसरी ओर बाज़ार द्वारा उसे आर्थिक आयाम में सीमित करा दिया। संजीव कुमार का कथन यहीं सही उतरता है- "भूमण्डलीकरण ने औरतों को अतीत की किसी भी कालावधि के मुकाबले अधिक निर्ममता और संपूर्णता से एक बिकाऊ जिंस में बदल दिया है।"[53]

आज उत्पादन का एकमात्र लक्ष्य बाज़ार में बिक्री हो गया है तो यह अतिशयोक्ति नहीं है कि लडकी और उसके जन्म के साथ रोपे गये पौधे का फल दोनों पके जाने पर बाज़ार में उपभोक्ता के मुँह में पानी भराकर संजोये जाते हैं। एकांत श्रीवास्तव की कविता बाज़ार में लडकी की वर्तमान माँग को व्यक्त करती है-

"फल बाज़ार में बिके
और चखे गये
लडकी बिकी अपनी बाज़ार में
जहाँ चखे जाने का कानून चलता था।"[54]

विदेशी मुद्रा में बढोत्तरी एक देश के आर्थिक विकास का सूचक बन जाता है तो यौन व्यापार अनेक देशों को विदेशी मुद्रा कमाने का एक सफल व्यापार बन गया है।

बाज़ार में स्त्री देह का व्यावसायिक कृत्रिम महिमामंडन होता है। अपनी पूरी संवेदनाओं सहित नारी के अस्तित्व को चीज़ के रूप में गिनना आज के बाज़ार का नियम बन गया है। उपयोगितावाद का सिद्धान्त आधुनिक बाज़ार में स्त्री पर ज़्यादा

लागू होता है। हर तरह से नारी देह का इस्तेमाल बाज़ार में उपभोक्तावाद की सफलता है। कवयित्री अनीता वर्मा बाज़ार की ताकतवर नारी के दो पक्षों को व्याख्यायित करती है-

"अब बाज़ार स्त्री के कदमों में है
उसके केश सहलाता, उतारता कपडा
सामान कोई भी हो, बेची जाती है हमेशा स्त्री।"[55]

आर्थिक रूप से सबल नारी बाज़ार का अनिवार्य हिस्सा बन गयी है। नारी-देह की भाषा विज्ञापनों की सबसे असरदार भाषा बन जाती है। उसके शरीर का अर्थ 'अर्थ' बन गया है। विज्ञापनों में नारीपन की लूट अपनी चरम सीमा पर है। कवयित्री आगे कहती है-

"ख़रीदनी है अगर हवा तो देखो स्त्री को
दर्द से ज़्यादा असरदार है उसकी कमर
तेल से ज़्यादा सुन्दर है केश
कपडों से ज़्यादा देह
देखो चमकीली आँखें, चिकनी त्वचा।"[56]

बाज़ार में नारी के रूपों को निर्मला पुतुल भी यों आँकती है-

"अब महज बस्ती-भर नहीं रह गया
हमारा कुरुवा
शहर में दूर तक फैले बाज़ार का
एक हिस्सा बन गया है यह

यहाँ दारू, ताडी, हडिया ही

नहीं बिकता

ठंडे और गर्म गोश्त भी बिकते हैं

बिकती हैं हँसी ठट्ठा और खिलखिलाहटें

ठंडी दिनचर्या से बनी

गर्म गर्म रातें।"[57]

बाज़ार स्त्री सौन्दर्य की आर्थिक परिभाषाएँ रचता है। उसे कण्डीशन्ड किया जाता है कि गोरापन ही सौन्दर्य है। मोटापन और साँवलापन उसे बाज़ार के बाहर फेंक देता है, उम्र बढ़ने की बात चिन्तनीय भी नहीं। यौवनयुक्ता गोरी नारी ही बाज़ार की माँग है। उसकी बिक्री के बाज़ार में बहुत सारे तरीके हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा और अहं की रक्षा के लिए नारी को जान बूझकर बाज़ार के इस जाल में प्रविष्ट होना पडता है। इसी विवशता को सविता सिंह की कविता 'नया-नाच' व्यक्त करती है-

"कहीं कुछ था हमारे देखने और समझने के बीच

पर्दे सा ढँके उस षड्यंत्र को शायद

रचा गया था इन लडकियों के देह के इर्द-गिर्द जो

ढँके उनके मस्तिष्क में बिठाये गये

पराधीनता के विष को

सुन्दर विचारों की तरह सजाए गए थे विलासिता के

भव्य परिधानों में जो

शायद बहुत पहले तय कर चुका था बाज़ार

इन लडकियों की नियति

बना चुका था खुद को एक विशाल नाच घर

जिसमें नाचना था इनको जीवन भर

बेचने थे उसके उत्पाद उन्हीं में तब्दील होकर।"[58]

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पाद बेचने के लिए बाज़ार में उपस्थित नारी उनकी कठपुतलियाँ बनकर, चीज़ें बेच-बेचकर एक चीज़ बन जाती है, जिसकी ख़रीद-बिक्री के लिए बाज़ार सदैव तैयार रहता है। स्त्री बाज़ार के आर्थिक पक्ष और सांस्कृतिक पक्ष को एक साथ संभालती है। बाज़ार में स्त्री की स्वतंत्रता स्वतंत्र होने की भ्रमात्मक संकल्पना है जिसमें आर्थिक बेडियाँ पहले से भी ज़्यादा मज़बूत और बहुआयामी हैं। सेक्स टूरिज़्म का बाज़ार आज बहुत व्यापक बन गया है। सौन्दर्य प्रतियोगिताओं का भी अर्थशास्त्र बाज़ार में खुल जाता है। 'सौ गलियोंवाला बाज़ार' कविता में लीलाधर जगूडी व्यापार के स्त्री-रास्ते का इशारा करते हैं-

"उनका लक्ष्य सौन्दर्य से सामान बेचवाना था

वे स्त्री की नहीं किसी ब्रांड की पहचान बना रहे थे

पूरे ब्रह्मांड में शरीर को दरी की तरह बिछाते हुए

जिसे विश्व सुन्दरी बेचती थी।"[59]

बाज़ार स्त्रियों को इस मज़बूरी की ओर ले जाता है कि सुन्दरी होना आधुनिक समाज की अनिवार्यता है। बाज़ार को सिर्फ विज्ञापन के लिए ही विश्व सुन्दरी की ज़रूरत है। 'विज्ञापन व मीडिया संस्कृति में नारी छवि' लेख में शमाख्वान बताते हैं- "स्त्री देह के सौन्दर्य का व्यावसायीकरण निस्सन्देह उन्हें 'शोगर्ल्स' बनाने के लिए प्रेरित कर रहा है। पूँजी का प्रचार तंत्र स्त्रियों के लिए घर में बुर्के और बाज़ार में बिकनियाँ बना-पहनाकर अरबों-ख़रबों का मुनाफा कमा रहा है।"[60]

आधुनिक नारी बाज़ार को घर में ले आती है और विज्ञापन में अपने बच्चे को कोई आधुनिक उत्पाद अनिवार्य दिखाकर उससे प्यार करती दिखाई देती है। पूँजीवाद की नई विपणन नीति स्त्री पर केन्द्रित है। बाज़ार का विस्तार करने के लिए पूँजीवादी देशों ने कई प्रकार की रणनीतियाँ तैयार की जिनमें से सबसे बडा बाज़ार सौन्दर्य प्रसाधनों से जुडा हुआ है। विश्व सौन्दर्य प्रतियोगिता के बहाने बाज़ार को और भी ज़्यादा भौगोलिक विस्तार प्रदान किया गया है। यौन व्यापार के लिए आयात-निर्यात होनेवाली नारियाँ देश का प्रमुख आमदनी- स्रोत बन गयी हैं। पूँजी के मुक्त प्रवाह के कारण संकट में फँसी अर्थव्यवस्थाओं के लिए ज़रूरी हो गयी कि वे कर्ज के बोझ से उबरने के लिए किसी न किसी प्रकार विदेशी मुद्रा के वैकल्पिक स्रोतों की तलाश करें। सेक्स टूरिज़्म इन विकल्पों में एक रह गया। पुरुष श्रम की तुलना में सस्ते श्रम के नाम पर भी स्त्री शोषण बाज़ार में हो रहा है। वस्तु की बिक्री बढ़ाने हेतु उसके प्रचार में, स्त्री की नग्नता का खुला प्रदर्शन आवश्यक न होकर भी अनिवार्य सिद्ध कर दिया गया।

स्त्री का, बाज़ार में कीमत निर्धारण करने के संबंध में प्रभाखेतान का मंतव्य है- "नए आर्थिक निजाम में हर चीज़ की कीमत होती है तथा एक स्वतंत्र और उन्मुक्त बाज़ार को वह कीमत निश्चित करनी ही चाहिए। अधिकांश गरीबों, विशेषकर स्त्रियों के लिए बाज़ार का जादू अपने चमत्कार दिखा रहा है।"[61]

बाज़ार का मायाजाल इस तरह बुन गया है कि अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की ललक तथा पुरुष के समकक्ष होने की इच्छा ने स्त्री को क्रूरतम और अनैतिक कार्यव्यापारों की ओर भी उन्मुख किया है। स्त्री की चिन्तनशीलता को, उसकी वैचारिकता को धन की ओर मोडा जा रहा है, बाज़ार में। बाज़ार एकदम 'भोग' को

केन्द्र में रखकर चलता है, स्त्री को वह इस भोगपरता की पराकाष्ठा के रूप में अभिव्यक्त करता है। पुरुषोपयोगी चीज़ों के विज्ञापनों में भी नारी को उप-उत्पादों के समान, शो-गर्ल्स की भूमिका में दिखा रहा है। बाज़ार में उत्पाद और उपभोक्ता दोनों भूमिकाओं को निभानेवाली नारी अपने को आर्थिक दृष्टि से सबल और समर्थ समझती है पर यह बाज़ार द्वारा फैलायी गई गलतफहमी है।

रमण कुमार सिंह की कविता 'बधाई मिस यूनिवर्स' बाज़ार में नारी के प्रायोजित जीवन को, बाज़ार का अचूक प्रतिनिधि बन जाने की नियति को व्याख्यायित करती है। कविता में कवि का साक्ष्य है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पादों को बेचने के लिए ही उन्हें ब्रह्माण्ड सुन्दरी का ताज पहनाया गया है। घरों को बाज़ार में गुमकर देना और घर-घर में बाज़ार को पसारकर देना उनका ध्येय है, विश्व सुन्दरी उसका साधन मात्र है।

बाज़ार के चतुर अनुबंधों में उसकी हँसी और रुलाई भी प्रायोजित हो जाती है। इस गुलामी को पहचानकर बाज़ार के आकर्षणीय परिधान से बचकर स्वतंत्र अस्तित्व पर खडे रहने को, नीलेश रघुवंशी की पंक्तियाँ धीरज दिलाती हैं-

"उपस्थिति को अपनी सिर्फ मोहक और दर्शनीय
मत बनने दिया करो
सुंदरियों
तुम एक करके तो देखो
बदल जाएगी दुनिया सारी।"[62]

विष्णु नागर की कविता 'बाज़ार' भी, बाज़ार की स्त्रियों के प्रयोजित विवेक को व्यावहारिक विवेक में बदला हुआ दिखाती है। अपने नंगेपन को खोजनेवाले बाज़ार से वह प्रतिरोध करती है-

"तुम मेरे बालों को दिखा-दिखाकर
कहीं अपना शैंपू न बेचने लगे
इसलिए मैंने बालों की चिन्ता करना छोड दिया
तुम मेरे दमकते चेहरे को
देखकर अपनी क्रीम न बेचने लगे
इसलिए मैंने मुँह पर ठंडे पानी के छींटे तक
मारना छोड दिया।"[63]

3.7 विज्ञापन

बाज़ारवाद के युग में विज्ञापन एक संस्कृति बनकर फैल रहा है। जनता की जीवन शैली का निर्णायक तत्व आज विज्ञापन बन गया है। उपभोक्ता के क्रय-विक्रय संबंधी सारे निर्णयों पर विज्ञापन प्रभाव डालते हैं। बाज़ार पर अपनी पकड को सुनिश्चित करने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ उत्पादों की सूचना इतने आकर्षक एवं लुभावने ढंग से प्रसारित करती हैं कि उपभोक्ता उससे अलग रह नहीं सकता। आज जब भूमण्डलीकरण ने मुक्त बाज़ार व्यवस्था का रास्ता खोल दिया तब सूचनाओं के विश्वव्यापीकरण की ज़रूरत भी बढ़ी है। सूचनाओं के विश्वव्यापीकरण के लिए विज्ञापन संस्थाएँ क्षेत्रीय प्रसार के साथ साथ विश्वव्यापी प्रसार, अभियान से भी जुड गई हैं। विज्ञापन इस अभियान का कार्यान्वयन करता है। व्यावसायिक हितसाधक

प्रक्रिया के रूप में विज्ञापन एक भोगपरक विचार पद्धति का निर्माण करता है जिसमें गैर ज़रूरतों का भी बुनियादी ज़रूरतों के रूप में नवनिर्माण किया जा रहा है।

विज्ञापन आधुनिक बाज़ार की रीढ़ की हड्डी है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने विज्ञापन प्रबंधन में लाखों-करोडों रुपए खर्च कर देती हैं। जिसे भी जोडकर मुनाफा उत्पाद की कीमत से वसूल कर देती हैं। समकालीन कवि विज्ञापन को बाज़ार का आर्थिक एवं सांस्कृतिक हथियार मानते हैं और उस माया दुनिया में फँसनेवाले उपभोक्ता वर्ग को सचेत बनाने के उपाय ढूँढ़ते हैं। अपनी ज़िन्दगी को भी प्रायोजित करनेवाले विज्ञापनों के प्रति कवि लीलाधर जगूडी की प्रतिक्रिया है-

"विज्ञापन सुन्दरी द्वारा प्रस्तुत करने योग्य
बनाया जाएगा इस जीवन को
हमको इसमें क्या देखना क्या समझना है
एक तो यह कि जीवन और ज़रूरतों के हम कितने शिकार हैं
दूसरा यह कि कितना हम शिकार कर पाते हैं, समस्याओं का।"[64]

विज्ञापन एक ब्रांड संस्कृति का विकास और विन्यास करता है। विज्ञापन से प्रभावित उपभोक्ता को अविज्ञापित चीज़ घटिये स्तर की प्रतीत होती है। विज्ञापनों का अति प्रसार एक ओर विकल्पों की दुनिया खोल देता है, दूसरी ओर उपभोक्ता के चयन की आज़ादी पर अनजाने ही रोक लगाता है। उपभोक्ता की रुचि में बार-बार तोड-मरोड करके उसे बाज़ार में भटकाने का खेल चलाया जाता है। 'बुरे वक्त में कविता' में मदन कश्यप विज्ञापनों के मुनाफाधारित रवैये पर टिप्पणी देते हैं-

"चॉकलेट में मिठास की जगह
विज्ञापनों का शोर भरा हो

साबुन में ख़ुशबू के बदले
प्रचारिका की अदाएँ हो
यानी कोई भी चीज़ वह न हो
जो उसे होना चाहिए।"[65]

उपभोक्ताओं को उकसाया जाता है कि इन चीज़ों के उपयोग किये बिना कैसे जीवित रह सकता है। ढ़ेरों सारी चीज़ों की दुनिया आपके लिए तैयार है तो आप कैसे अनदेखा कर सकते हैं? नये युग में विज्ञापन एक सम्मोहक शत्रु बनकर अवतरित हुआ है। मंगलेश डबराल की पंक्तियाँ हैं-

"वह लोगों को सूचना देता है आप जीत गए हैं
एक विशाल प्रतियोगिता में आपका नाम निकल आया है
आप बहुत सारा कर्ज ले सकते हैं, बहुत सा सामान ख़रीद सकते है
एक अकल्पनीय उपहार आपका इंतज़ार कर रहा है।"[66]

यदि आप टी.वी. न देखे तो भी आपका मोबाइल नंबर उन्हें मालूम है, अपने विज्ञापनों को आप तक पहूँचाने के लिए। विज्ञापन एक कुशल प्रबंधक की भाँति उत्पादक और उपभोक्ता को मिला देता है। मंगलेश डबराल की 'कुशल प्रबंधन' कविता में उन्होंने सूचित किया है कि शिकारी और शिकार कितनी ही दूर और छिपकर बैठे हो उन्हें खींचकर, एक परफेक्ट मैनेजमेंट के हाथ पास-पास लाकर खडा करते हैं, वही बाज़ार का कुशल प्रबंधन है।

मानव मन को विज्ञापन पट ढक लेता है। 'एक विज्ञापन पट' कविता में ज्ञानेन्द्रपति विज्ञापन को मायावी दानव दल का कुचक्र कहकर उसकी व्याप्ति पर

आशंका प्रकट करते हैं। चीन की उस लंबी दीवार के भी ऊपर लगा हुआ विज्ञापन पट एक महान मानवीय उपक्रम को भी छोटा बनाकर खडा हुआ है-

"देखो कि उसका व्यास विस्तृत अमाप
इन्सानी दिमाग के ठीक बराबर
चेतन से परे
अवचेतन की स्वप्न भूमि सिंचती है
और बदलता है धीरे-धीरे
एक स्वप्न लोक।"[67]

बाज़ार और उपभोक्ता की खोज में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के असरदार हथियार विज्ञापन एक व्यापार चिह्न बन गया है। आज की जीवन शैली की अभिव्यक्ति बन गई है। वह हमारी चेतना में प्रविष्ट होकर हमें उपभोग के लिए बेचैन बना दे रहा है। विज्ञापन बाज़ार का ठोस आधार है। यही विज्ञापन की कला है कि जो जिस तरह दिखना चाहिए उससे अलग रूप में दिखाता है। चमत्कारों का उत्पादन ही बाज़ार में सबसे बडा व्यापार है। अपनी एक कविता 'विज्ञापन' में कवि विजय शंकर चतुर्वेदी ने विज्ञापनों की अनैतिकता पर विचार प्रकट किया है। नकली उत्पादों को लोगों तक पहूँचाकर भ्रम की दुनिया की संरचना में विज्ञापन एक कुशल व्यापारिक प्रक्रिया बन जाता है। विज्ञापन बाज़ार के संदेशों को फैलाकर उपभोक्ता को अपनी आर्थिक स्थिति के परवाह किए बिना खरीदी में विलुप्त होने को प्रेरित करता है-

"वायुमंडल उसी के संदेश से लदा है
उसके व्यापारिक लोकतंत्र में जो न खाये-पिये
ताज्जुब नहीं वह कहलाए अस्तरीय असभ्य और हेय।"[68]

लीलाधर जगूडी की उपरोक्त पंक्तियाँ उदारीकृत वित्तीय संरचना में उपभोक्ता को ब्रोड संस्कृति में फँसा देने में सशक्त भूमिका अदा करनेवाले विज्ञापनों की पहूँच की ओर इशारा करती हैं। जीवन के सारे कार्यक्रमों में एक 'कमर्शियल ब्रेक' के लिए जगह मिल गई है तो समकालीन कवि आम जनता को इसके प्रति सचेत बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

3.8 उदारीकृत विश्व-बाज़ार व्यवस्था

आर्थिक नीतियों के क्षेत्र में लगातार हो रही गलतियों की उपज के रूप में उदारीकृत बाज़ार व्यवस्था पनपने लगी थी। उन्मुक्त बाज़ार व्यवस्था अमीर लोगों की अपनी व्यवस्था बन जाती है और पैसे की ताकत से क्रयशक्ति में सबसे संपन्न हो जाते हैं। अर्थनीति संबंधी सारे कानूनों को अंतर्राष्ट्रीय सुविधानुसार बाज़ारानुकूल बनाया गया तो आयात- निर्यात पर सारे नियंत्रण समाप्त हो गए। देश में विदेशी निवेश का खूब स्वागत हुआ और विकास के नाम पर अल्पविकसित देशों का आर्थिक इस्तेमाल बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा अपनी चरम सीमा पर पहूँच गया। उदारीकरण एक ऐसा खेल बन चुका हैं जिसमें शामिल होने में कोई भी देश पीछे रहना नहीं चाहता। विकसित देशों की आर्थिक संप्रभुता के अतिक्रमण को उदारीकरण के कारण और भी ताकत मिल गई है। एक ओर आयात शुल्क में भारी कमी की गई तो दूसरी ओर निर्यात के लिए दिये जानेवाले अनुदान कम करा दिया। मुद्रा की विनिमय दर में समायोजन के चलते रुपये का काफी अवमूल्यन हुआ।

आर्थिक सुधार प्रक्रिया के नाम पर अर्थव्यवस्था में खुलापन लाकर उसे वैश्विक अर्थव्यवस्था में शामिल कराने की नीति अपनाई गई।

उदारीकरण का मतलब पूँजी के मुक्तव्यापार हेतु एक अंतर्राष्ट्रीय वातावरण के निर्माण पर आधृत है। पूँजी के, तकनीकी के एक ऐसे बहाव की प्रक्रिया तेज़ी से चलती है जिसमें राष्ट्रीय सीमाएँ बाधा नहीं डाल सकतीं। तभी विश्व बाज़ार की संकल्पना मूर्त हो सकती है। उदारीकृत बाज़ार व्यवस्था के स्वरूप को विनोद बिहारी लाल इस प्रकार व्यक्त कर देते हैं- "इनमें स्थानिक साधनों से बने उत्पादों या विशिष्ट सेवाओं को अपने सीमित क्षेत्र से बहुत आगे जाकर विश्व-स्तर पर मुहैया कराने की सोच होती है- उत्पाद या सेवाएँ हमारी, पर उसका बाज़ार विश्व-भर में।"[69]

बाज़ारवाद पर आधृत विश्वगाँव, चीज़ों और सेवाओं के वैश्वीकरण को ही सूचित करता है। गाँव की संकल्पना से इसका कोई मतलब नहीं रहता। रामदरश मिश्र की कविता 'विश्वग्राम' की पंक्तियाँ हैं-

"धीरे-धीरे भेद खुलता गया कि
विश्व ग्राम का मोहक महल
ग्राम संवेदना पर नहीं बाज़ारवाद पर खडा है।"[70]

उदारीकरण विश्व के विकसित धनिक-वणिक देशों की पूँजी के निर्बाध प्रवाह के लिए एक बहावा मात्र है। वे अविकसित और अल्पविकसित देशों पर बाज़ार के रंगीन जाल फैलाकर एक नया उपनिवेश चलाते हैं। कवि आगे कहते हैं-

"उनके द्वारा बनाई गई वस्तुएँ
दूसरे देशों के लिए
ज़रूरी न होकर भी ज़रूरी बनती जा रही हैं
उनके मोहक पाश में बाँधकर

लोग उन्हें सगर्व सजाते जा रहे हैं अपने अपने घरों में
और अनजाने ही निष्कासित होते जा रहे हैं घर से
हाँ विश्व एक हो रहा है लेकिन बाज़ार के रूप में।"[71]

अविकसित देशों के लिए उदारीकरण असल में उधारीकरण ही सिद्ध हुआ है। विदेशी पूँजी निवेश के लिए काफी ऊँची ब्याज दर देकर उन्हें आकर्षित किया जाता है और विदेशी निवेश देश को उन्हीं के हाथों जाने के लिए मज़बूर भी करा देता है। आर्थिक उदारीकरण में उत्पादन और निवेश से जुडे निर्णय बाज़ार की शक्तियों के हितानुसार लिये जाते हैं और बाज़ार का एकमात्र लक्ष्य मुनाफा है, अतः वह संसाधनों का आबंटन क्रय-शक्ति के हिसाब से कर देता है उसमें ज़रूरत के लिए कोई जगह नहीं रहती है। इसी तथ्य को अष्टभुजा शुक्ल पंक्तिबद्ध करते हैं-

"अपने खिलौने
हमें उधार पर बेचकर
उन्होंने खरीद लिए हमारे खेल
खेल नहीं बचे हमारे पार
अब सिर्फ खिलौने हैं
उधार के खिलौने।"[72]

अपनी महत्वाकांक्षा के वर्चस्व को मज़बूत करने के लिए अविकसित-अल्पविकसित देशों को उदारीकरण के मोहक नाम से वशीभूत करने की कोशिश नवसाम्राज्यवाद का खुला बाज़ार है। कवि ज्ञानेन्द्रपति विश्व बाज़ार के इस फैलाव के प्रति गहरी चिन्ता व्यक्त करते हैं-

"आज़ादी के गोल्डन जुबली साल में
आज़ादी का मतलब है
बाज़ार से अपनी पसन्द की चीज़ चुनने की आज़ादी
और आपकी पसन्द
वे तय करते हैं।"[73]

कवि चेतावनी दे रहे हैं की विश्व बाज़ार के इन दिनों में बाज़ार न जाए तो भी धीरे-धीरे बाज़ार ही हमारा विश्व बन जाएगा। हमारी सारी गतिविधियाँ उसके चक्कर में घूमेंगी। बाज़ार मनुष्य की सारी इच्छाओं का पूर्तिकर्ता और मूर्तिकर्ता अवतार पुरुष बन गया है। देशी व्यापार को परजीवी बनाने में विश्व बाज़ार सफल हुआ है। विश्व व्यापार संगठन और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की आर्थिक नीतियों की प्रयोगशाला बनकर अमरीकी बाज़ार पूरे विश्व को समेट रहा है। कवि की आशंका है-

"अब लक्ष्य है निर्यात और अभीष्ट है विदेशी पूँजी निवेश
यह है निश्चित
कि देशी और दुब्बर खेसाडी दाल की तरह निन्दित
उखाडकर फेंक दिया जाऊँगा।"[74]

विदेशी सामग्रियों को जीवन के सुखदायक चीज़ों के रुप में प्रतिष्ठित करने पर देशी उत्पादों को बडे ही निन्दित एवं तिरस्कृत रहना पडता है। अपने बजट के बाहर की चीज़ों से घर भरा देने को विवश आदमी के सामने स्वदेशीपन के विकल्प को पेश करनेवाली कविता है अष्टभुजा शुक्ल की 'तीन रुपए किलो'।

"अपने में थोडी-थोडी खाँसी लिए हुए भी न खाँसते
वेतन ओवरटाइम मज़दूरी या भीख के
पैसों से मिल जानेवाले
बिना किसी को कर्जदार बनाए
अमरूद बिके
तीन रुपए किलो।"[75]

बाज़ार का वैश्विक स्वरूप, बुनियादी ज़रूरतों के पूर्तिकर्ता के दायरे से बहुत अधिक व्यापक धरातल पर पहूँच गया है। अब बाज़ार बचपन का वह बाज़ार न रह गया जो आकाश के नीचे ओस की बूंदों जैसे चमकता था। बाज़ार का वैश्विक स्वरूप अनीता वर्मा के शब्दों में यों साकार हो उठता है-

"बचपन का वह बाज़ार अदृश्य हो गया है
इस बाज़ार में एक चीज़ के साथ दूसरी चीज़ मुफ्त नहीं है
जैसा कि चलन है इन दिनों का
यह सुन्दर तारिकाओं के साबुन नहीं बेचता
अर्द्धनग्न सुन्दरता नहीं बेचता
गरीब लडकियों के लिए च्यूइंगम नहीं बेचता।"[76]

बिना ज़रूरत के सब कुछ खरीदानेवाले वर्तमान बाज़ार में हमेशा लुटे-पिटे होने का अहसास ही शेष रह जाता है, जो हमारे घरों तक आकर हमेशा हमें सताता रहता है। देश के हर कोने के ग्राहकों को, उत्पादकों को विश्व बाज़ार की ओर खींचने का एक अजब तरीका चल रहा है।

विश्व व्यापार संगठन जैसे व्यापार के ठेकेदारों ने 1970 के उत्पादन प्रक्रिया पेटेंट कानून को संशोधित करके उत्पाद पेटेंट कानून 2005 में बदल दिया। उत्पादन प्रक्रिया पेटेंट कानून के अनुसार उत्पाद पर पेटेंट नहीं लगाया जा सकता। लेकिन उत्पाद पेटेंट कानून नवउदारतावाद का पोषक सिद्ध हुआ। उत्पाद की कीमत बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ तय करती हैं। कीमत निर्धारण के क्षेत्र से सरकार को हटाया जाता है। पेट्रोलियम उत्पादों पर कीमत निर्धारण का अधिकार इस कानून के आधार पर निजी कंपनियों ने हासिल कर दिया है। देशी उत्पादों पर एकाधिकार जमाने की इस प्रक्रिया पर प्रश्न करती है निर्मला पुतुल-

"कौन है वह जो हमारे पेडों पर आम लगते ही
पेडों का सौदा करता है
और हम अपने ही घर के पिछवाडे फले आम से
वंचित हो जाते हैं
कैसे वह बोतलों में बन्द होकर
पहूँच रहा है बाज़ारों तक।"[77]

होटलों दूकानों और अस्पतालों में संसार तब्दील हो रहा है और दूकानों और होटलों में अपनी खरीदारी शक्ति को प्रामाणित करने का परिणाम हमें अस्पतालों में पहूँचा देता है, इनके बीच का परफेक्ट मैनेजमेंट हम पहचान नहीं पाते हैं।

वैश्विक बाज़ार एक तरफ पूँजी पर अमरीका के वर्चस्व का सूचक है। अमरीका का वर्चस्व न केवल विश्व बाज़ार और राजनीति की दशा-दिशा निर्देशित-नियंत्रित करता है अपितु सामान्य जन का खाना-पीना उठना-बैठना तक नियंत्रित

करता है। समकालीन कवि इस अव्यवस्थित अर्थ व्यवस्था के खतरे को उठाकर आदमी को जागृत करना चाहते हैं।

3.9 बाज़ार का दबाव

आज बाज़ार आदमी का पीछा करता है। आदमी की सुख-सुविधाओं की चिंता उसे ही सबसे अधिक सताती है। बाज़ार जाने की ज़रूरत तक नहीं, हमारी सुविधा-असुविधा की परवाह किए बिना बाज़ार हमारे घर-घर में घुस-बस जाता है। हमारी जीवन शैली पर उसकी नजर है, वह उसे सुधारना चाहता है। एक नवसाम्राज्यवादी परियोजना में आदमी की सोच को बाज़ार में घुमा देना आसान बन जाता है। बाज़ार की सर्वव्यापी लोलुपता का फैलाव उपभोक्ता वर्ग को अपने में समेट लेता है।

हमारी ज़िन्दगी के हर मोड पर बाज़ार की ढेर सारी चीज़ें आ बसी हैं। बाज़ार में उपलब्ध चीज़ों का चयन करने की एक लंबी कतार बन गई है हमारी ज़िन्दगी। कोई भी तरीका अपनाकर बाज़ार अपना माल खरीदवाकर ही छोडता है। 'भारत एक बाज़ार है' में विष्णु नागर हमें सोचने को बाध्य करते हैं कि बाज़ार आजकल एक की कीमत में दो-तीन-चार तक देने के वायदे कर रहा है, प्रतियोगिता के नाम पर अपना माल नमूने के तौर पर आपके घर मुफ्त में पहूँचा रहा है।

समकालीन कवि बाज़ार का आदमी के सपनों तक में आ बसने की आशंका अपनी कविताओं में जाहिर करते हैं। ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'आज़ादी उर्फ गुलामी' इसका सशक्त प्रमाण है-

"यांत्रिक सभ्यता के शीर्ष पर
उन्होंने केवल कंप्यूटर ही नहीं बनाए हैं

आपके दिमाग को भी कंप्यूटर में बदल दिया है
जिसका साफ्टवेयर वे सप्लाई करते हैं
घर बैठे होम डिलिवरी
मुफ्त बिलकुल मुफ्त।"[78]

विश्व बाज़ार के इन दिनों में बाज़ार ही आदमी का विश्व बन जाता है। बाज़ार की इस पहूँच और दबाव पर जया जादवानी आश्चर्य प्रकट करती हुई पूछती है-

"वे कैसे घुस जाते है हमारे घरों के भीतर
वे फुसफुसाकर हमें बताते हैं कि
हमारे पास नहीं है क्या-क्या
वे हमें जगाए रखते हैं अभावों के प्रति
वे हमें हमेशा भूखा रखते है।"[79]

बाज़ार हमें चीज़ों की दुनिया में भटकने हेतु प्रेरित करता है। वर्तमान समय के खालीपन को चीज़ों से भरा देने की कोशिश में हम लगातार लगे रहते हैं। बाज़ार में उपभोक्ता को ज़्यादा से ज़्यादा परनिर्भर और निष्क्रिय बनाता जा रहा है। उपभोग की लालसा के अनावश्यक विस्तार के कारण बाज़ार में स्वयं एक उत्पाद बन जाने को मनुष्य विवश बन जाता है। आजकल नैतिक और मानवीय आवश्यकताओं से परिचालित आदिम बाज़ार के स्थान पर प्रलोभन और आकर्षण से बनाया गया उत्तराधुनिक बाज़ार मौजूद है। ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'मशरूम वल्द कुकुरमुत्ता' इस उत्तराधुनिक बाज़ार का एक परिदृश्य बन जाती है-

"एक दिन बाज़ार से मेरे घर आता है
एक उच्च-भ्रू दूकान के आदमकद फ्रिज में से निकल

पारदर्शी पोलिथिन पैकेट में बन्द
वह गौरांग।"[80]

नवयुगी कुकुरमुत्ता अब कुकुरमुत्ता नहीं अल्ट्रामार्डन पंचतारा होटलों का डिश मशरूम बन गया है। बाज़ार से गुजरकर सामान्य चीज़ों का मूल्य यों बढ़ जाता है आदमी का नहीं। आम चीज़ भी आम आदमी की पहूँच के बाहर की रह जाती है। बाज़ार ने अपनी पहचान को हर जगह घुलमिला दिया है। बाज़ार में आदमी का अस्तित्व अपनी क्रयशक्ति पर ही निर्भर रहता है। 'बाज़ार के बारे में कुछ विचार' कविता में राकेश रोहित आधुनिक बाज़ार पर यों टिप्पणी करते हैं-

"सारे वाद-विवाद से दूर बाज़ार का एक खुला वादा है
कि कुछ लोगों का हक कुछ से ज़्यादा है
और आप किस ओर है यह प्रश्न
आपकी नियति से नहीं आपकी जेब से जुडा है
यदि आप समर्थ है
तो आपका स्वागत है वैश्विक गाँव में
जो मध्ययुगीन किले की तरह खूबसूरत बनाया जा रहा है।"[81]

बाज़ार हमेशा यह अहसास दिलाता है कि वह हमारी सेवा के लिए सदैव तत्पर है। बाज़ार के चक्कर को पहचानते हुए भी हम उसमें फँसने के लिए विवश हो जाते है। उमाशंकर चौधरी की कविता में इसका साफ दस्तावेज़ है। हम बता देते हैं कि पेप्सी में जहर है लेकिन ज़माना हमें पेप्सी पीने के लिए विवश कर देता है।

बाज़ार के विकास के साथ-साथ उत्पादों और सेवाओं के क्रय-विक्रय से आर्थिक संपन्नता का सपना दिखाकर तीसरी दुनिया के देशों को बाज़ारोन्मुख बनाया

जा रहा है। भूमण्डलीकरण में भाग लेने के लिए आतुर देश अपने को बाज़ार के सामने न्योच्छावर कर देता है। पंकज राग की कविता 'गौरव यात्रा' की पंक्तियाँ हैं-

"वैसे हमारा बाज़ार मज़बूत होता जा ही रहा है
कितनी ही चीज़ें सस्ती होती जा रही हैं
व्यवस्था को छोडो चीज़ों को चुनो
इतना विविध तो कभी नहीं रहा हमारा देश।"[82]

बिकाऊ मानसिकता को पैदा करने में बाज़ार अपने सारे औजार इकट्ठा करता है। एक तरफ सब को बाज़ार की ओर आकर्षित करता है तो दूसरी तरफ सब कहीं घुस जाता है। जो कुछ भी बिक सके, उन सबको, हाथ लगनेवाले सब कुछ को बेच देने की मनोवृत्ति बाज़ार की ही उपज है। बलदेव वंशी इस पर तीखा प्रहार करते हैं-

"यानी चल-अचल जो भी हाथ लगे
दूध मुँहे शिशु भी
पाट दो विश्व बाज़ार
पैदा कर लेंगे और देर मत करो
बाज़ार अनुकूल है अभी। भाव चढे हैं
मंदी नहीं कहीं।"[83]

3.10 निजीकरण

उदारीकरण के उपउत्पाद के रूप में निजीकरण का भोलभाला शुरू हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र से देश के विकास सूत्रों को निजी संस्थाओं को सौंप देने की प्रक्रिया

निजीकरण है। वस्तु की गुणवत्ता बनाये रखने हेतु निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों के बीच स्वस्थ प्रतियोगिता की माँग सहज है किन्तु मुनाफाखोरिता ने निजीकरण को स्वार्थ-सिद्ध-साधक बना दिया। पूरे पर्यावरण का निजीकरण हो रहा हैं। स्वास्थ्य, खेती, शिक्षा जैसे सारे सार्वजनिक क्षेत्र बाज़ार में मुनाफा कमाने का माध्यम बन गया है।

निजीकरण पूँजीवाद का उत्तराधुनिक परिवेश तैयार कर देता है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को निजी संस्थाओं के हाथों बेच देने पर धीरे-धीरे निजी संस्थाएँ देश का मालिक बन जाती हैं। पहले व्यापार जगत में प्रतियोगिता करनेवाली निजी संस्थाएँ आजकल देश के हर क्षेत्रों को व्यवसाय में परिणत करने की दौड में हैं। एक हद तक देश की आर्थिक स्थिति को मज़बूत करने में निजीकरण सहायक होता है लेकिन सभी क्षेत्रों में पूँजी का अतिक्रमण, और निजीकरण का प्रोत्साहन देश के लिए हानिकारक ही होता है। सार्वजनिक क्षेत्रों को हाथिएकृत करके निजी संस्थाएँ पनपने लगीं तो पुनः देश की आर्थिक व्यवस्था पर कब्जा लगाना सरकार की ताकत के बाहर की बात बन जाती है।

सार्वजनिक क्षेत्रों की निजी सूचनाओं से समकालीन कवि तीख्री प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। कुमार अंबुज की कविता 'कहीं कोई ज़मीन नहीं है' इसका प्रतिरोध करती है-

"हर जगह में निजी होने की ताकता की सूचना
बोर्ड पर लिख्री है

फसलें जला दी गई है

सल्फास खा चुके हैं किसान
और बचे-गुचे लोग बिल्डरों से ही रोजी माँग रहे हैं
पृथ्वी बिल्डर की डायनिंग टेबल पर रखा एक अधखाया फल।"[84]

निजीकृत आर्थिक पद्धति में पूँजी और उसका मुनाफा प्रधान रहता है, देश का विकास, गरीबी का निवारण और पर्यावरण की रक्षा आदि पीछे पड जाते हैं। वे गुणवत्ता से समझौता कर सकती है पर आर्थिक लाभ से नहीं। इसी प्रकार अधिक मुनाफावाले क्षेत्रों पर ही निजी संस्थाएँ अपनी रुचि रखती हैं तभी जनता के हित उपेक्षित रह जाता है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में सरकार बीमारी रोकने की प्रक्रिया में भाग लेती थी वहाँ गैर सरकारी अस्पताल महंगे इलाज में ही लगे हुए हैं। निजी बीमा कंपनियों और निजी अस्पतालों के बीच का समझौता स्वास्थ्य के बाज़ार को संपन्न बना देता है। अरुण कमल की प्रतिक्रिया है-

"जैसे सरकारी अस्पताल थे लेकिन वहाँ
रुई पट्टी तक न थी, नर्सें स्वेटर बुनती रहतीं
डाक्टर कभी-कभी सैर पर आते
और बेड के नीचे कुत्ते सोये रहते
केवल लाश-घर पर सरकार का पूरा नियंत्रण था।"[85]

निजीकरण देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन का पहला पडाव था। सुबह से लेकर रात तक का आदमी का चाल चलन निजी कंपनियों के उत्पादों के साथ है। हम कठपुतलियों की तरह अपनी ज़िन्दगी की डोर को उन्हीं के हाथ सौंप देकर चैन की नींद में डूबे रहते हैं। पहचानते नहीं कि यह निजीकरण विकास के नहीं विध्वंस के युग का सूचक है। एक-एक करके सारे सरकारी उद्यमों को निजी

क्षेत्रों को बेच देने की सरकार की नीति पर अरुण कमल की कविता कुठाराघात करती है-

"सरकार बिगडे ज़मीन्दार की तरह
सारे कल कारख्राने चम्मच कटोरी
बेच रही थी और अंत में
उसने बच्चो के दूध की बोतलें भी बेच दी
तब एक माँ ने कहा- सरकार जी
ऐसा करे कि संसद भी बेच दे।"[86]

देश की कुशल श्रमशक्ति के शोषण करके निजीक्षेत्र उद्योगों का विस्तार करता है। सभी क्षेत्रों में निजी निवेश की बढ़ोतरी उपनिवेश का नया अध्याय रचता है। समकालीन कवि मानवाधिकार के हनन करनेवाले इस विकास नीति का दमतोड विरोध करता है, निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में गुणवत्ता पर आधारित प्रतियोगिता के पक्षधर रहते हैं।

3.11 निष्कर्ष

आज दुनिया में हो रही सारी गतिविधियों का एकमात्र लक्ष्य तथा कथित आर्थिक एकीकरण है। उदारीकृत वातावरण में अपनी क्रयशक्ति के आधार पर आदमी को वर्गीकृत किया जाता है। बेच-ख्ररीद के अलावा दुनिया में कुछ और नहीं चल रहा है। दुनिया की धडकन अब बाज़ार में है, यहाँ आदमी का अस्तित्व या तो क्रेता के रूप में या विक्रेता के रूप में। यदि आपकी जेब ख्राली है तो आप इस बाज़ारीकृत दुनिया के वृत्त से बाहर है। नव पूँजीवाद में व्यक्ति अपनी नहीं, बाज़ार में अपने को सिद्ध करने की ज़िन्दगी जी रहा है।

मुक्तबाज़ार की सुहावनी संकल्पना तीसरी दुनिया के देशों को लुभाने और साथ बहानेवाली थी। उपभोक्ता को राजा ठहराकर अपने व्यापारिक हितों को साधती अमरीकी वर्चस्ववादी आर्थिक व्यवस्था में आज़ादी ढूँढता रहता है ग्राहक समाज। उत्पादन उपभोक्ता को लक्षित कर अंतहीन मुनाफे की लालच को केन्द्र बनाता है और ग्राहक पटानेवाले विपणन तंत्र से पूरे ज़माने को गुलाम बना देता है।

समकालीन कवि इस ख़ुरदरे समय में अर्थोपविष्ट समाज की सारी चुनौतियों को स्वीकारने और प्रतिरोध करने के विशेष ढंग अपनाते हैं। संघर्ष की नई शैलियों का ईजाद करते हैं।

कवि समझते हैं कि चुप रहना पराजित होना है। कवि का प्रतिरोध नवसाम्राज्यवादियों को ही नहीं उपभोक्ता समाज की नीरवता को भी संबोधित करता है। हमारे पूरे दिन के सुविधापूर्ण संचालक बंधुओं से मुँह न मोड सकनेवाले ग्राहक समाज की असहायता कवि पहचानते हैं। उत्पादन की दृष्टि सिर्फ मुनाफे पर है उपभोक्ता के हित पर नहीं। लेकिन बाज़ार यही दोहराता है कि हम आपके लिए है, मुफ्त सेवा के लिए सदैव तैयार।

अपने गहन अनुभवों के बल पर ही कविगण अपना प्रतिरोध खडा करते हैं। उसमें मुद्देबाजियाँ नहीं, प्रतिरोध कवि का विकल्प है। इसमें उनके होने का, रचने का तथा कर्म का सत्तापरक वातावरण है। असमाधेय संकट के सनातन बहस में कवि अपना स्थान निष्पक्षता में नहीं, पक्षधारिता में ढूँढ़ते हैं। बाज़ार में हाशिएकृत होनेवाले किसान के पक्ष में, नारी और प्रकृति को अकूत मुनाफे के साधन बनाने के विपक्ष में, वे सतत बोलते रहते हैं। आर्थिक नीति के नाम पर पूँजी के खुले खेल से अवगत होकर भी उसके खिलौने बनने में अपना वर्तमान अस्तित्व समझनेवाली एक

पीढ़ी के सामने कवि कैसे चुप्पी साध सकते हैं? विकास का अर्थ आर्थिक वृद्धि तक सीमित रह जाता है और इस आम समझ में समकालीन कवि दोहराते हैं कि दुनिया को बदलना ज़रूरी है ताकि दुनिया बची रहे। कवि याद दिलाते हैं कि पानी और वायु का प्रतिस्थापन अन्य किसी भी चीज़ों से असंभव है इसलिए बहुराष्ट्रीय निगमों की पकड से उन्हें वापस लाना ही पडेगा। सारे क्रियाव्यापारों को बाज़ारीकृत करना विश्वव्यापार संगठन का प्रत्यक्ष लक्ष्य है, उसमें छिपे हुए सारे शोषणों का सशक्त प्रतिवाद करना है। पूँजीवादी व्यवस्था की पैंतरेबाजी प्रतिरोध करना, जिन्दा रहने का निशान है।

संदर्भ-सूची

1. सच्चिदानन्द सिन्हा - भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, पृ.125-126
2. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ.135
3. हंस, जुलाई 2015, पृ.25
4. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ.70
5. हंस, जुलाई 2015, पृ.25
6. नीलेश रघुवंशी - पानी का स्वाद, पृ.63
7. लीलाधर जगूडी- ख़बर का मुँह विज्ञापन से ढ़का है, पृ.103
8. उमाशंकर चौधरी- कहते हैं तब शाहँशाह सो रहे थे, पृ.43
9. वही, पृ.49
10. निलय उपाध्याय- कटौती, पृ.16
11. अनीता वर्मा - रोशनी के रास्ते पर, पृ.86
12. समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च-अप्रैल 2013, पृ.100-101
13. पवनकरण- कहना नहीं आता, पृ.49
14. पवनकरण- अस्पताल के बाहर टेलीफोन, पृ.71
15. मदन कश्यप- कवि ने कहा, पृ.90
16. राजेश जोशी- नेपथ्य में हँसी, पृ.23
17. कुमार अंबुज- क्रूरता, पृ.11
18. वही, पृ.27

19. कैलाश वाजपेयी- भविष्य घट रहा है, पृ.23-24

20. अरुण कमल- मैं वो शंख महाशंख, पृ.56

21. हरीशचन्द्र पाण्डेय- भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं, पृ.67

22. कुमार अंबुज- अनंतिम, पृ.10

23. लीलाधर जगूडी- भय भी शक्ति देता है, पृ.112

24. विनोदकुमार शुक्ल- अतिरिक्त नहीं, पृ.17

25. ज्ञानेन्द्रपति- गंगातट, पृ.15

26. कुमार अंबुज- अतिक्रमण, पृ.15

27. भगवत रावत- ऐसी कैसी नींद, पृ.75

28. सं. डॉ.प्रमोद कोव्वप्रत- काव्य चयनिका, पृ.54

29. निर्मला पुतुल- बेघर सपने, पृ.53

30. एकांत श्रीवास्तव- बीज से फूल तक, पृ.44

31. कैलाश वाजपेयी- हवा में हस्ताक्षर, पृ.109

32. लीलाधर मंडलोई- काल बाँका तिरछा, पृ.81

33. मदन कश्यप- कवि ने कहा, पृ.79

34. निर्मला पुतुल- बेघर सपने, पृ.65

35. समकालीन भारतीय साहित्य- नवंबर-दिसंबर-2008, पृ.37

36. इन्द्रप्रस्थ भारती- जुलाई-सितंबर, 2014, पृ.63

37. लीलाधर मण्डलोई- काल बाँका तिरछा, पृ.95

38. मदन कश्यप- कवि ने कहा, पृ.9

39. वही, पृ.105

40. समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई -अगस्त 2011, पृ.15

41. वही, पृ.93

42. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.123

43. समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई -अगस्त 2011, पृ.222

44. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.98

45. मदन कश्यप- कवि ने कहा, पृ.109

46. वर्तमान साहित्य, जुलाई 2012, पृ.27

47. आलोचना, जनवरी-मार्च 2014, पृ.86

48. लीलाधर मण्डलोई- काल बाँका तिरछा, पृ.78

49. आलोचना, जुलाई- सितंबर- 2003, पृ.45

50. अरुण कमल- मैं वो शंख्र महाशंख्र, पृ.72

51. निलय उपाध्याय- कटौती, पृ.34

52. मुकेश मानस- पतंग और चरख्रडी, पृ.21

53. आलोचना, जनवरी-मार्च- 2013, पृ.107

54. एकांत श्रीवास्तव- बीज से फूल तक, पृ.89

55. अनीता वर्मा- एक जन्म में सब, पृ.25

56. वही, पृ.25

57. निर्मला पुतुल- अपने घर की तलाश में, पृ.81

58. सविता सिंह- नींद थी और रात थी, पृ.45

59. लीलाधर जगूडी- ख़बर का मुँह विज्ञापन से ढ़का है, पृ.92

60. मधुमति- जनवरी 2013, पृ.67

61. प्रभा खेतान- बाज़ार के बीज बाज़ार के ख़िलाफ, पृ.120

62. नीलेश रघुवंशी- पानी का स्वाद, पृ.44

63. आलोचना, जनवरी-मार्च- 2014, पृ.8

64. लीलाधर जगूडी- ईश्वर की अध्यक्षता में, पृ.20

65. मदन कश्यप- कवि ने कहा, पृ.83

66. मंगलेश डबराल- नये युग में शत्रु, पृ.15

67. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.99

68. लीलाधर जगूडी- ख़बर का मुँह विज्ञापन से ढ़का है, पृ.103

69. समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई -अगस्त 2011, पृ.71

70. वही, पृ.93

71. वही, पृ.94

72. अष्टभुजा शुक्ल- इसी हवा में अपनी भी दो-चार साँस हैं, पृ.10

73. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.123

74. वही, पृ.171

75. अष्टभुजा शुक्ल- दुस्वप्न भी आते हैं, पृ.39

76. अनीता वर्मा - रोशनी के रास्ते पर, पृ.39

77. निर्मला पुतुल- बेघर सपने, पृ.63

78. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.123

79. समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई -अगस्त 2011, पृ.112

80. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.59

81. समकालीन भारतीय साहित्य, मई- जून- 2009, पृ.41

82. पंकज राग- यह भूमंडल की रात है, पृ.104

83. बलदेव वंशी- धरती हाँफ रही है, पृ.65

84. कुमार अंबुज- अतिक्रमण, पृ.117

85. अरुण कमल- मैं वो शंख महाशंख, पृ.102

86. वही, पृ.73

चौथा अध्याय

बाज़ारीकरण के सामाजिक- सांस्कृतिक पक्ष और कवियों का प्रतिरोध

विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं से गुज़रकर संस्कृति आज अपनी नवीनतम अभिव्यक्तियों में द्रष्टव्य है। व्यक्तिकेन्द्रित भोगवादी जीवन-दृष्टि से विकसित एक नव सुख्रवाद की आधुनिक व्याख्या में संस्कृति का भी उपभोग खूब हो रहा है। मानसिकता और वैचारिकता पर कब्जा जमाना संस्कृति को एकायामी बनाने का सशक्त सूचकांक है। बेचने की संस्कृति और ख्रीदने की संस्कृति के बीचों बीच सोचने की संस्कृति कहीं विलुप्त हो चुकी है। स्थानीय और क्षेत्रीय अभिव्यक्तियों को बौना बनाकर एक उपभोक्ता संस्कृति जीवन की सारी विविधताओं को अपने में समेट लेती है। पूँजीवाद के नव-अवतार में सुधीश पचौरी की सामाजिक-सांस्कृतिक व्याख्या उल्लेख्रनीय होती है- " 'पूँजीवाद' में, पैसे की दुनिया में, ऐसी अंतर्युक्ति में समाज स्वयं को एक सांस्कृतिक वस्तु समझ्ने लगता है। यह वस्तुकरण ही किसी समाज की पहचान बन जाता है। पूँजीवाद में मूल्य और अतिरिक्त मूल्य की स्वायत्त प्रक्रिया 'बाज़ार' में संभव होती है। यह प्रक्रिया एक सांस्कृतिक प्रविधि बन जाती है और उसी तरह समझ्ी जाती है।"[1]

आर्थिक दबाव से भी बढ़कर बाज़ार का सांस्कृतिक दबाव मानव को चारों तरफ़ से अब्द बना देता है। लोक-जीवन की आस्था और ऊर्जा विश्व-बाज़ार में बिकने के लिए सँजोकर रख्ी गई हैं। धर्म की सौदागरी आज सब से मुनाफेदार सिद्ध होती है। पूँजी के उन्मुक्त प्रवाह में लघु-संस्कृतियाँ बह रही हैं और सांस्कृतिक वर्चस्ववाद का नया चेहरा दृश्यमान हो रहा है। उत्पादन को आदर्श और विपणन को विचार बनाकर वर्तमान अपसंस्कृति हमारे सपनों तक की लूट कर रही है। स्थानीय पहचानें विश्व-बाज़ार के प्रति समर्पित हो चुकी हैं। बाज़ार की व्यवस्था ने हमें एक नई जीवन-शैली, विचार-पद्धति, पारिवारिक रिश्ते, मूल्य और व्यवहार की

ओर ले चला है। अपने सोच-विचार और आचार-व्यवहार में हम कुशल व्यापारी बन गए हैं। हमारा सांस्कृतिक वातावरण इतना प्रदूषित हो चुका है कि हमें एक मानव के रूप में प्राप्त, अपने में अर्जित सब कुछ को बाज़ार के सामने न्योच्छावर कर देने के हम सहमत हो गये हैं। एक मनुष्य-विरोधी सभ्यता के हम पक्षधर बन चुके हैं तो समय की विद्रूपताओं के बीच अपनी मानवीयता की बुनियादी पहचान लेकर समकाल में कविगण रचनारत हैं, यह याद दिलाकर कि प्रतिरोध करना ही कवि कर्म है। अपसंस्कृति से लडनेवाली एक प्रतिसंस्कृति को रूपायित करने की सृजनात्मक कोशिश बन चुकी हैं समकालीन कविताएँ, जिनपर बाज़ार की नज़र तो है, पर बाज़ार की चीज़ बन चुकने की नियति का अवश्य वे प्रतिपक्ष रच रही हैं।

4.1 आदमियत की पहचान

समाज के चारित्रिक ह्रास के कारक के रूप में संक्रमणशील युग के सम्मुख परिवर्तन की छद्म आधुनिकता और धर्म के दुरुपयोग के घातक ख़तरे मौजूद हैं। ऐसी हालात में मनुष्य होने के अहसास और मनुष्यता को बचाये रख्ने की तीव्र आकांक्षा समय की माँग होती है। मनुष्य को उनकी बुनियादी गुण-धर्मों से काटकर महज उपभोक्ता में तब्दील कर देने की प्रक्रिया के बीचों बीच समकालीन कवि तभी युग-सापेक्षता निभा पाते हैं जब वे अमानवीय हरकतों के घोर तिरस्कार का दावा दे सकते हैं। अपनी पहचान पर अतिक्रमण करनेवाली ताकतों के प्रति मनुष्य को जागृत करना आदमियत की संस्कृति को बचा लेने की कवि की आकांक्षा का द्योतक है।

घर से निकालकर बाज़ार में घूमनेवाले मानव में अपने स्मृतिचिह्न तक न बचे हुए हैं। अपनी सही पहचान को दूसरों के सामने सिद्ध करने की इच्छा होकर भी

वह पराजित हो जाता है, दूसरों को पहचानते तक नहीं है। साधनहीनताओं की दुनिया में हमारी पहचान को चुराकर भाग गये समय से अनभिज्ञ रहकर हम ऐसी एक नींद में लगे हुए हैं कि मानवपक्ष में रहना कठिनतम हो गया है। कवि भगवत रावत अपनी कविता 'मनुष्य' में बता रहे हैं कि मनुष्य के रूप में दिखावा करने के लिए नाखून काटते, बाल सँवारते, कपडे इस्तरी करते, बाज़ार में अपने को सुसभ्य सिद्ध करते हुए भी आज हम किसी भी तरह से मनुष्यता को बचा नहीं पाते हैं। अब किसी आवाज़ उठने पर नंगे पाँव उसी की ओर दौड पडना असुरक्षित समझा जाता है। घर में, कमरों में आराम से बैठकर नरसंहार देखकर हम चकित होने का अभिनय कर रहे हैं।

अरुण कमल की कविता 'थूक' भी इसी अमानवीयता का प्रत्याख्यान करती है। बाज़ार में एक आत्मकेन्द्रित मानव समाज का निर्माण-पोषण हो रहे हैं और प्रतिक्रियावादी मानसिकता पर ताला लगाया गया है। वर्तमान के सबसे खतरनाक स्वार्थी सभ्यता का पर्दाफाश कवि यों करते हैं-

> "कामरेड सुधीर ने घटना बताते हुए कहा था
> अगर केवल सब लोग थूक देते एक साथ
> तो गुंडा वहाँ डूब जाता
> यही तो कहते रहे मान बहादूर जीवन भर
> पर कितना कम थूक है अब इस देश के कंठ में।"[2]

एक भारी भीड के सामने एक गुंडा कत्ल करके भाग जाता है और इकट्ठी हुई भीड एकदम चुप रहती है। पंकज पराशर इस संवेदनशून्यता को, केवल अन्याय

और अत्याचार के प्रति ही नहीं, अपनी आत्मा के प्रति भी घोषित करके बताते हैं- "समाज की प्रतिरोधी शक्तियाँ इस हद तक स्वार्थ और स्व-सुरक्षा तक सीमित हो गई हैं कि किसी भी अन्याय और जुल्म के खिलाफ संघर्ष का नारा गुज़रे ज़माने की चीज़ लगने लगी है।"[3]

बाज़ार जीवन की नई अजीब परिभाषाएँ रचता है और ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है कि मनुष्य को बिकाऊ माल बनना पडता है और वही मनुष्य माल का ग्राहक भी बन जाता है। मनुष्यता की सिर्फ ये दोनों पहचानें ही आज बनी रहती हैं। इसप्रकार मानवता को अर्थ का गुलाम, बेपहचान बना देनेवाली वर्तमान जबरदस्ती के बीच कवि कुमार अंबुज अपना पक्ष स्पष्ट करते हैं-

"यह मेरा जुर्म हुआ है कि मेरे पास चेहरा है
लेकिन पहचान पत्र नहीं
विश्व बैंक की गोष्ठी में
जिबह किये गये लोगों का
नब्बे करोडवाँ हिस्सा हूँ मैं।"[4]

बाज़ारवाद का विस्तार तंत्र इतना क्रूर और भयानक हो गया है कि चीज़ों के साथ-साथ जीवन-शैली, प्रतिबद्धताएँ, संवेदनाएँ तक विश्व-बाज़ार में अपनी कीमतों को बार-बार रेखांकित करने की कोशिश में लगी हुई हैं। परिवार और समाज में, अपनी निजता और उपयोगिता खोकर व्यक्ति स्वयं एक पदार्थ बन गया है। वह स्वयं अत्पाद की तरह बाज़ार में बिककर स्थिति को उपभोक्ता की तरह भोगता है। बाज़ार में अपनी सार्थकता की तलाश करनेवाले आदमी को मुफ्त में ठगी देकर उसके

उपयोगितामूल्य पर प्रश्नचिह्न लगाया जाता है। कवि विश्वरंजन इसी प्रक्रिया को रेखांकित करते हैं-

"यह तो हमारे ही
बहुत अन्दर उग रहा है
उगता ही जा रहा है
बढ़ता ही जा रहा है
बढ़ता ही जा रहा है लगातार
हमें ही बिकनेवाली चीज़ों में
कर रहा है तब्दील यह
यहाँ हमारी आत्माओं की
बोली लगाई जा रही है
सरे-आम।"[5]

कवि बताते हैं कि हमारे भीतर ही उगनेवाले उस बाज़ार से लडना ज़रूरी होता जा रहा है। वस्तुकरण की प्रक्रिया से अपनी आत्मा को बचा लेना है।

बाज़ार तो खुले रहते हैं, सबको लुभाकर। पर कहीं भी कुछ ऐसा नहीं है जिससे आदमी का खालीपन भरा हो सके। अनीता वर्मा की 'ईर्ष्या' नामक कविता में अपनेपन से बेसमझ रहने की नियति में पडे मानव की हालत को चित्रित करके बताया गया है कि कहीं भी किसी भी तरीके से खुले बाज़ारों में अपने होने को महसूस कर सकने का एक भी उपाय नहीं मिलता है। क्योंकि वहाँ इतनी रोशनी है कि कोई रोशनी नहीं दिखती है। बाज़ार में चीज़ों की चमक में कुछ भी नहीं दिखाई देता।

बाज़ार से गुज़रकर आने के बाद अपने को अपूर्ण-अधूरा महसूस करनेवाले व्यक्ति के विचार पर ही बाज़ार ने कब्जा कर लिया है। उत्तर आधुनिक परिवेश की ख़ासियत भीड़ के बीच व्यक्ति के अस्तित्व संघर्ष है तो बाज़ार की भीड में वह ख़ो जाता है। समकालीन कवि अर्थाधारित वातावरण में आदमी की तिरस्कृत नियति को संवेदनात्मक स्वर प्रदान करते हैं। बाज़ार में मानव की वर्तमान स्थिति को शंभुनाथ यों पारिभाषित करते हैं-"सार्वजनिक जगहों के बाज़ार की जगहों में बदलने, ज्ञान के सूचना में परिसीमित हो जोने, डिजिटल संस्कृति के पनपने और आलोचनात्मक विवेक तथा उच्चतर सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराओं को त्यागकर बाज़ार के द्वारा निर्मित एक भिन्न दुनिया को सब कुछ मान लेने की वजह से इस समय सबसे अधिक जिस चीज़ की क्षति हो रही है वह है मनुष्य का अंतर्जगत।"[6] मंगलेश डबराल की 'गुलामी' कविता बाज़ार की निराली गुलामी को सूचित करती हैं। कवि इस पहचान पर बल देकर कह देते हैं कि इन दिनों दिमाग पर पहले कब्जा कर लिया जाता है और बाद में ज़मीनों पर कब्जा करने के लिए लोग उतरते हैं और इसी तरह नई गुलामियाँ शुरू होती हैं। वर्तमान समय की गुलामियाँ तरह-तरह की, सस्ती और महँगी चमकदार रंग-बिरंगी होती हैं और उनमें फँस जाना आदमी की आदत बन गई है।

बाज़ार में आदमी के बिके जाने से बचा लेनेवाला कोई नहीं है आज। एक भूमण्डलीकृत संस्कृति के बीच महसूस होनेवाले अस्तित्व संघर्ष ने एक 'बाईकल्चरल आइडेन्टिटी' को रूपायित किया है। एक समाज का अस्तित्व अपनी स्थानीयता को पूर्ण रूप से उपेक्षित न कर सकने की असहायता और दूसरी ओर वैश्विक संस्कृति में

शामिल हो पाने की तीव्र आकांक्षा के बीच संघर्ष कर रहा है। 'कटनेवाले माँस के लिए एक बाज़ार गीत' में बद्रीनारायण इसी अनिश्चितता की ओर इशारा करते हैं-

"मेरे तन से माँस काट-काट
बेचने से उन्हें कौन रोक सकता था
माँस भी कटे पर कोई कह कुछ न पाए कि मैं
इस बाज़ार में साबुत नहीं हूँ
कि काटा गया है मेरा माँस।"[7]

कवि की चिन्ता है कि बाज़ार के बढ़ते प्रभाव और इस भयावह रूप से मनुष्य के भीतर की सुन्दरता को किस तरह बचाकर रखा जाए। कवि आलोक धन्वा अपनी कविता की ताकत पर विश्वास बरतते हैं और ज़ोर से कह देते हैं कि बर्फ काटनेवाली मशीन से आदमी काटनेवाली मशीन तक कौंधती हुई अमानवीय चमक के विरुद्ध, उनकी कविता बिगडते चलते हुए गाँवों के बीच से गुज़रती है। आदमियत के लिए लडाई करती है।

कविता कवि की प्रतिक्रिया है। समकालीन बाज़ार के अधिवेशनों में 'प्रतिक्रिया' शब्द का सूक्ष्म अर्थ 'प्रतिरोध' बन जाता है। नवसाम्राज्यवाद के उपनिवेशों का उनके अमानवीय पक्षों पर प्रतिरोध करने की ताकत एकजुट करने में समकालीन कवि एक हद तक सफल हो जाते हैं। बाज़ारीकरण को वे सांस्कृतिक आक्रमण मानते हैं और यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि आज मनुष्य ही अपने ऊपर, आत्मा के ऊपर अतिक्रमण करता हैं। कुमार अंबुज 'अतिक्रमण' में व्यक्त करते हैं कि आज मनुष्यों पर, मनुष्यता पर अतिक्रमण करनेवाला मनुष्य, अपने को वस्तुओं से घेरते हुए स्वयं एक वस्तु बन गया है।

बाज़ार की चमक ने मनुष्यता पर घर कर लिया है। भरी हुई चीज़ों के अन्दर मानव की सारी चेतनाएँ दबी हुई हैं।

इस तरह चीज़ों को, बाज़ार को, अपनी ज़िन्दगी में किस हद तक शामिल करना है यह सोचने की जगह भी हमारे लिए छोडी नहीं गई है। बाज़ार की नीयत है मानव जीवन का, उसकी चेतना का वस्तुकरण। इससे बच पाने की इच्छा जगाना कवि का ध्येय बन जाता है। कात्यायनी की पंक्तियाँ हैं-

"चीज़ों के बारे में
सोचने के लिए कहा उन्होंने
हमें
चीज़ों में बदल डालने के लिए
हमने सोचा
चीज़ों के बारे में
चीज़ों में बदल जाने से
बचने के लिए।"[8]

जीवन के परिधि निर्णय का अधिकार अब बाज़ार की वस्तुओं ने हडप लिया है। मनुष्य उसके अन्दर चक्कर लगाता रहता है। जब हम वस्तु होने के तैयार बन जाते हैं तभी मनुष्यता पर संकट उभर आता है। मनुष्य को अपने संकटग्रस्त सारतत्व का सच दिखाने का प्रयास कवि करते हैं। असभ्यता को भी सभ्यता के रूप में मनवा देने की कला बाज़ार को आती है। उसमें से मनुष्यता को बचा पाने की कला कवि को ही आती है। बलदेव वंशी 'ख़ुद को सुनना ख़ामोश घर में' कविता में बाज़ार की विकल्पहीन आज़ादी में मूक बने आदमी का चित्र खींचते हैं-

"आदमी चुप होता है जब
तो चीज़ें बोलती हैं
बोलती चीज़ों से घिरा
आदमी ख़ामोश है।"[9]

अतः आदमियत को पुनः स्थापित करने के लिए आदमी को अपनी ज़ेबों की भाषा से बाहर आना चाहिए। ख़ाली जगह में ही बाज़ार बैठ जाता है। अपने जीवन को एक भी बार चिन्तनशक्ति से भर देना चाहिए। आत्मरक्षा की बेचैनियों से गुज़रनेवाली मानवीयता को अधोरेखित करते हैं कवि उमाशंकर चौधरी-

"तुम जानते हो कि बाज़ार के पास
अपनी इच्छाओं को मानवाने की कई तरीकें हैं।
तुम यह भी जानते हो कि अपने मिजाज में वह
शातिर है, और उसके पास
अपना गुलाम बनाने का कई ट्रिक है
तुम सबकुछ जानते हो
फिर भी तुम बच नहीं पाते हो।"[10]

कवि याद दिलाते हैं कि मानव विचार के मद में फँसते-फँसते पानी के प्लास्टिक बोतल की तरह रिक्त हो जाएगा और अपने विचारों में ख़ाली होकर कोई निर्देश या सूचना के बिना 'क्रश' कर दिया जाएगा। मानव के पक्षधर रहना आज की दुविधापूर्ण संस्कृति में आसान नहीं है। बाज़ार कहीं भी बहुत आसानी से, सहज रूप से घर जमाता है लेकिन कवि और कविता जो मानवता के सहगामी है, परिवेश के दबाव में कहीं भी टिक नहीं पाते। इसलिए ही मुकेश मानस की चिन्ता प्रासंगिक हो जाती है-

"घिर रही है सारी धरती
सामान के अंबार से
दूकानों में बदल रहे हैं घर
बाज़ार बन रही है दुनिया
मैं चिन्तित हूँ
अब कहाँ रहेंगे वे लोग
जो भरे इन्सानियत और प्यार से।"[11]

बाज़ार संचालित मानव की स्वाभाविकता अब नष्ट हो चुकी है। मनुष्यता को बचाने के जोख़िम बनाना ज़रूरी बन गया है। 'बाज़ार से लडना एक अनिवार्य हिमाकत है' कविता में विश्वरंजन अपनी असलियत का प्रमाण देने के लिए संघर्षरत आदमी को इसी जोख़िम के रूप में दिख्राते हैं, जो आहत होता हुआ भी बाज़ार के ख़िलाफ लड रहा है। वह उन स्वप्नों के लिए लड रहा है जो उसने अपने बच्चों के साथ देख्रा था जिन्हें बाज़ार ने चुपके से ले चल गया था। इस प्रकार अपने लिए आदमी को बाज़ार के ख़िलाफ हिमाकत उठाना अनिवार्य होता जा रहा है। जहाँ बाज़ार में आदमी का स्वप्न देख्रना मना है वहाँ बाज़ारी ख़ौफ और आतंक के कोहरे से लिपटे रहने के बावजूद भी बाहर निकल आने के रास्ते ख़ुला देने का स्वप्न देख्रना है।

आज मनुष्य को किसी भी अन्याय सहज सह लेने की आदत पड गई है। अन्याय को अन्याय की तरह महसूस करना उसे नहीं आता है। बाज़ार द्वारा निर्मित ज़रूरतों के घेरे में पिसकर महसूस करने की ताकत भी नष्ट हो चुकी है। इसी बीच कवि यह कह देने की ताकत दिख्राते हैं कि किसी भी हालत में वह बाज़ार नहीं बन

सकता। आवाज़ के हल्केपन को मज़बूत करके सख्त बनाने की कोशिश में हैं समकालीन कवि। संस्कृति के विकास में मानव अपनी पूरी संवेदनाओं-प्रतिक्रियाओं सहित अब तक सम्मिलित रहा है, आज सांस्कृतिक एकध्रुवीकरण में, सामाजिक विस्थापन में उसकी आत्मिक ऊर्जा को बाज़ारू बना देने की साजिश विविधरूपी है, जिससे बच पाना आसान न होकर भी अनिवार्य बन गया है।

4.2 उपभोक्ता संस्कृति

चीज़ों के लिए भूख पैदा करके आदमी को उपभोग के लिए लालायित करना उपभोक्तावाद का प्रथम प्रमाण हो सकता है। बाज़ार में व्यक्ति का उपभोक्तृ मूल्य निश्चित हो जाता है। हर चीज़ों को, जीवन के हर क्षणों को पण्यीकृत करके भोग की लालसा की दृष्टि से आँकना उपभोक्तावाद है। बाज़ार के सारे के सारे रास्ते इस उपभोक्तावाद की ओर खुल जाते हैं। उपभोग के लिए सदैव तैयार एक समाज के सामने बाज़ार उपभोग्य वस्तुओं की एक अनवरत धारा प्रवाहित कराता है जिसके साथ उपभोक्ता बह जाता है।

मीडिया और विज्ञापन के सहारे भोगवाद बढ़ाने में बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपनी अहम भूमिका निभा रही हैं। घरों में घुस गए बाज़ार 'टेलीशॉपिंग' आदि के माध्यम से उपभोग को इतना आसान और मज़ेदार बना देता है कि बाज़ार में उपलब्ध चीज़ों को अपनाने से, उन्हें अपनी बुनियादी ज़रूरतें समझने से, भोक्ता आनन्द का अनुभव कर सकता है। आदमी की मनोवृत्ति अधिकाधिक पैसा कमाकर अधिकाधिक भोग करने की एक तीव्र आकांक्षा पर टिकी रहती है।

उपभोक्तावाद के पनपने के परिणामों पर श्यामाचरण दुबे का कथन यहाँ उल्लेखनीय प्रतीत होता है- "अर्थव्यवस्था के भूमण्डलीकरण के साथ अपसंस्कृति का

भी भूमण्डलीकरण हो रहा है। भोगवादी संस्कृति जंगल की आग की तरह फैल रही है और जीवनदृष्टि और जीवनशैलियों को विकृत कर रही है। मूल्य विश्रृंखलित हो रहे हैं, विघटनकारी शक्तियाँ सामाजिक ढाँचे को जर्जर कर रही हैं।"[12]

उपभोक्ता के सोचने समझने के तरीके को इकतरफा करना उपभोक्तावाद के प्रचार का सशक्त तरीका है। आत्मनिर्भरता खोकर बाज़ार में भटकते रहे आदमी उपभोक्ता संस्कृति का सूचक है। उपभोग को जीवन का परम लक्ष्य समझना सांस्कृतिक गिरावट है। समकालीन कवि फैशन के नाम पर हो रहे नए प्रकार के उपभोगों में अपने को खोये मानव को सांस्कृतिक प्रतिरोध की ओर चलाना चाहते हैं। बाज़ार आम आदमी के उपभोक्ता पक्ष को सदैव जागृत करके रखता है और उसको बार-बार अपने अधूरेपन की याद दिलाता भी है। जया जादवानी की कविता 'बाज़ार' की पंक्तियाँ हैं-

"वे हमें जगाए रखते हैं अभावों के प्रति
वे हमें हमेशा भूखा रखते हैं
वे हमसे माँगते कुछ नहीं
पर लगातार ग्लानि और खेद से
हम उनके सामने कर देते हैं जेबें खाली।"[13]

बाज़ार को अपने घर में न समेट पाने की निराशा आदमी की रात की नींद और दिन का चैन चुरा लेती है। हम अपने घर को बहुत कुछ न ला पाए की शर्म और क्षोभ के साथ एक करुण दृष्टि से देखते हैं। परनिर्भरता यानी बाज़ारनिर्भरता सांस्कृतिक संकट का ही द्योतक है। व्यक्ति और सामाज की सारी सृजनशीलता इस अंधी-दौड में गायब होती है। बाज़ार रूपी 'ग्रेट मैन' के अंग- कान, नाक, जीभ,

त्वचा बन जाते हैं हम। पूरी दुनिया एक शॉपिंग काम्पलेक्स में बदल गई है और हम ग्लोबल मार्केट में हैं।

उपभोक्तावाद का सर्वग्रासी चेहरा-असीमित लाभ के शिकारी का है। मानव को बाज़ार व्यवस्था में पहूँचाकर चमकीला उत्पाद बनाकर क्रय-विक्रय के लिए प्रदर्शित वस्तु बना देना उपभोक्तावाद का सबसे विकृत पक्ष है। स्वप्निल श्रीवास्तव की कविता 'बाज़ार' इस भयावहता की जाँच करती है। बाज़ार में बच्चे भी बेचे जाते हैं, मानव-अंग भी। हत्यारे दलालों के रूप में, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रूप में, विज्ञापन सुन्दरियों के रूप में, उदारीकरण के रूप में, धर्म के रूप में बाज़ार में घूम रहे हैं। अतः कवि कहते हैं कि बाज़ार में पहूँचते ही ग्राहक का मोल लग जाता है और वह नहीं ख़रीदेगा तो मारा ही जाएगा। उपभोक्ता संस्कृति के बढ़ते प्रभाव पर निलय उपाध्याय चिन्तापूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं-

"मकडी जैसे ख़ुद बने जाल में फँसकर
दम तोड देती है
सुविधाओं के पीछे पाग, दम तोड देगी
यह दुनिया।"[14]

उपभोक्तावाद के तिलिस्म में साधारण आदमियों की रुचियाँ पीछे हटी जा रही हैं और एक चुनाव की आज़ादी उन्हें देकर चीज़ों का कैद बनाया जाता है। पूँजीवादी सत्ता समाज की सोच को बदलने में कामयाब हो रही है। ख़रीदने-बेचने की क्रिया को सहज बनाना और सार्वजनिक क्षेत्र सभी के लिए खोल देना वैश्वीकरण का लक्ष्य बताया गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का सफल औजार उपभोक्तावाद है। बाज़ार ग्राहक समाज की इच्छाओं को नियंत्रित रखने के साथ-साथ उन्हें जागृत और

विस्तृत भी कर देता है। आदमी की क्रयशक्ति को सर्वोपरि बताकर उपभोक्ता को राजा ठहराने में बाज़ार सफल तो हुआ है लेकिन उपभोक्ता समाज का प्रतिनिधि बनकर संजय कुंदन बता रहे हैं-

"मैं कहाँ से दाख़िल होऊँ उस तिलिस्म में
गडबडा चुका है अपनी पसन्द का गणित
मुझे ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा कि
आख़िर क्या है मेरी पसन्द
क्या है मेरे जीवन में मेरी पसन्द का।"[15]

बाज़ार में उपभोक्ता चीज़ों को नहीं चुन लेता है बल्कि चीज़ें अपने ग्राहक चुनने की आज़ादी रखती हैं। उपभोक्ता को प्रतीकात्मक वस्तुओं के उपभोग की प्रवृत्ति की ओर खींचकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने एक ब्रांड संस्कृति का निर्माण भी किया। ग्राहक की जीवन शैली और सामाजिक 'स्टैटेस' का पता चलानेवाली ताकत के रूप में ब्रांड संस्कृति को फैलाया गया। यह भी उपभोक्ता के चुनाव क्षेत्र को सीमित रखने का एक कुशल उपाय रहा। जीवन के हर पहलुओं पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की ब्रांडेंड चीज़ों की मुहर लगायी गयी है।

भौतिक सुख यानी अर्थ और काम को प्रधानता देनेवाले एक समाज में ही बाज़ार पनप सकता है। बाज़ार के नए उपनिवेश बनाने की फिराक में वह उपभोक्ता को चीज़ों के गुलाम बना देता है। उपभोक्ता संस्कृति न सिर्फ हमें बिना ख़रीदे बाज़ार से गुज़रने नहीं देगी बल्कि समय आने पर बिना ख़रीदे बाज़ार से गुज़रने की छूट के भी उचित दाम हमसे वसूल लेगी। राजीव रंजन की कविता 'बाज़ार' बाज़ार द्वारा प्रायोजित उपभोक्तावाद के विरुद्ध एक हस्तक्षेप है-

"बाज़ार ने इश्तहार जारी किया
ज़िन्दगी को कैसे शून्य बनाया जाय
ज़िन्दगी और समय कितना महत्वपूर्ण है?
जीवन सिर्फ ख़रीदारी के लिए है
जीवन केवल तात्कालिक और भौतिक है।"[16]

व्यक्ति की सोच को भौतिकता के विभिन्न तत्वों में केन्द्रीकृत करना उपभोक्तावाद का लक्ष्य है। सुखमय जीवन बिताने के सारे साधन इकट्ठा करने में पूरी ज़िन्दगी लग जाती है और सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक भी उपभोग-क्षमता पर निर्भर रह जाती है। आश्चर्य की बात यह है कि वस्तु की ज़रूरत और ख़रीदारी का कोई संबंध बनाये रखना बाज़ार में अब आवश्यक नहीं रह गया है। विज्ञापनों और मीडिया द्वारा अनुगूँजित व्यापार संदेशों की आवृत्ति पर अनावश्यक वस्तुओं को भी लोग बुनियादी आवश्यकता के रूप में देखने लगे हैं। ज्ञानेन्द्रपति की पंक्तियाँ हैं-

"बेचो बेचो बेचो ख़रीदो-ख़रीदो ख़रीदो
उनके सन्देश के सप्तम स्वर में
डूब गई हैं सारी पुकारें
क्रय- विक्रयिक उनके समवेत क्रेंकार में।"[17]

व्यापार को सभ्यता के नीयत का सर्वोपरि मानने की संस्कृति के ख़िलाफ समकालीन कवि यह द्योतित करने की कोशिश कर रहे हैं कि कविता की सृजनशीलता अभी भी पूर्ण रूप से निरापद नहीं हो चुकी है। एक अत्याधुनिक तरीके से सजे हुए मॉल के इर्द-गिर्द घूमती वैचारिकता को पुनः विवेक के साथ जोड देने की आशा भरते हैं। बद्री नारायण की कविता 'फकीर की याद' यही आह्वान करती है।

कवि समझते है कि आज मानुष में 'भोग' का रोग फैल गया है। उससे बचने के लिए अपने भीतर के राग को, विराग को थोडा-सा बचाकर रखना ज़रूरी है।

4.3 घर-परिवार, रिश्ते और बाज़ार

जहाँ बाज़ार में मनुष्य की संवेदना और वैचारिकता छीजती जा रही है तभी उसके रिश्ते केवल बाज़ार से बने रहते हैं। संस्कृति उद्योग में तब्दील होती है, घर मालगोदाम बन जाते हैं और रिश्तों का क्रय विक्रय पैसों में होता है। हर व्यक्ति की महत्वाकांक्षा बाज़ार में अपने को सिद्ध करने, मुनाफा कमाने की रहती है और संबंधों को बनाये रखने की सभ्यता पीछे पड जाती है। एक कुशल व्यापारी की भाँति मानव अपने वैयक्तिक संबंधों पर मुनाफे की दृष्टि से देखता है और परिवार के सुदृढ़ ढाँचे को तोड-मरोड देता है। बाज़ार में सब कुछ 'स्व' तक सीमित रहता है। आदमी अपनी ज़िन्दगी को बाज़ार में बेचकर एक बेहत्तर, सुविधापूर्ण लाभदायक ज़िन्दगी बाज़ार से खरीदना चाहता है, तब वह बाज़ार में जी रहा है, घर में जीने का अभिनय कर रहा है। अपने लिए एक नकली संस्कृति को निर्यात करने की उसकी हक है, वहाँ सामाजिक संस्कृति विलुप्त हो जाती है।

संबंधों की मानवीयता पर अर्थतंत्र हावी हो रहा है। बाज़ार के सारे सिद्धान्त उपयोगिता पर आधारित है, वह संबंधों को भी नहीं छोडता है। बाज़ार के 'कुशल यंत्र' बन चुके मानव में संबंधों की ऊष्मा और ऊर्जा नष्ट हो चुकी है। ईंट और पत्थरों से बने हुए, चीज़ों से भर हुए घर में प्यार और ममता भी बिकाऊ हो गये हैं। समकालीन कवि बाज़ारीकरण के सबसे विध्वंसक सांस्कृतिक आक्रमण के रूप में परिवार और संबंधों पर धन के आधिपत्य और आक्रमण को महसूस करते हैं।

अशोक वाजपेयी इसका साक्ष्य देकर- अपनी कविता द्वारा चुनौती दे रहे हैं कि हर मकान दूकान में बदलने की होड में है। आज बाज़ार की उस भीड और हाहाहूती में वह भोलापन बचपन के रास्ते संगाती, छुपकर खायी चाट, धरती, धूप, चाँदनी, आकाश, नीम के मिथुनों के ऊपर के नीलाकाश को खोज निकालना बिलकुल असंभव रह गया है। घर की पुरानी संकल्पना तक पहूँचना मुश्किल है, उस तक पहूँचने का रास्ता भी गायब हो चुका है।

दूकानों में परिवर्तित घरों में बचपन के उन दिनों को ढूँढ निकालना बिलकुल असंभव हो पाया है, जब हर सदस्य उसे एक परिवार बनाने के लिए अपने को न्योच्छावर करते थे।

बाज़ार मनुष्य को अपनी स्मृतियों से, पूरी नैतिकता से पीछे खींचता है। पुराने संबंधों के धागों को तोडकर बाज़ार की दौड में भाग लेने को वह हर क्षण उकसाया जा रहा है। सुखों के भोग करने हेतु निर्मित एक शरीर के रूप में मनुष्य को बदल डालने में बाज़ार सफल हो चुका है। कवि कुमार अंबुज अपनी याददाश्त पर हो रहे उस हमले को पहचानते है, जो संबंधों की बज़ाय नये ईजाद किये गये यंत्रों की उपयोगिता का पाठ पठाते है और बाज़ार की असीम लालच में जीवन को धन्य बनाने हेतु धकेल देते हैं। 'याददाश्त' कविता में कवि कहते हैं-

> "वे चाहते हैं विस्मृत कर दूँ मैं अपना जन्म स्थान, अपनी भाषा
> भूल जाऊँ अपनी नदी का नाम और उसका संगीत
> याद न रहे मुझे अपने बचपन के फूल, पक्षी और पेड
> भूल जाऊँ कि मैं एक मनुष्य हूँ।"[18]

बाज़ार चाहता है कि मनुष्य का दिमाग हो जिसका मशीनीकरण करके उपयोगितावाद के सिद्धान्त के अनुकूल ढ़ाला जा सकता है, पर उसकी याद-सपने-संवेदना भरा दिल न रह जाये।

घर में आदमी को हाशिएकृत करके चीज़ें अपने स्थान जमा लेती हैं। मनुष्य में इतनी निष्क्रियता भर दी गई है कि चीज़ों से भरे घर में वह भी एक चीज़ बन गया लेकिन कभी भी अपनी उपस्थिति दर्ज नहीं कर पाता है। बाज़ार ने मानव के वस्तुकरण की इस प्रक्रिया को बडी तेज़ी गति प्रदान की है। 'कबाडी का तराजू' कविता में निर्मला गर्ग बताती हैं कि रिश्तों की जगह आज हम चीज़ों को रख देते हैं और चीज़ों के घर लेने के बाद घर मकान बन जाता है और अंत में आदमी अकेला, पड जाता है।

संबंधों के व्यावसायीकरण में 'उपयोग करके फेंक दो' सिद्धान्त लागू हो सकता है। अपने सारे रिश्तों को तब तक पूरा इस्तेमाल करो, जब तक वे हमारे लिए लाभदायक हो। इस प्रकार फेंके देनेवालों में वे भी शामिल हो जाते हैं जिन्होंने जन्म देकर, पाल-पोसकर हमें बना देने में पूरी ज़िन्दगी व्यतीत की थी। समकालीन कवि बूढ़े माँ-बाप के प्रति बाज़ार की विचार पद्धति के अनुसार व्यवहार करनेवाले आधुनिक सभ्य मानव पर तीख्रा प्रहार करते हैं। अपनी कविता 'ओल्डहोम' में कवि रमणकुमार सिंह उपयोगितामूल्य ख्रो चुकी ज़िन्दगियों को देख्रकर यों कहते हैं-

"गड्ड-मड्ड हो रही है सारी स्मृतियाँ
और वह हर वक्त करता है
अपनी ही संतान के तीर से घायल

भीष्म की तरह आजकल
मौत की प्रतीक्षा
लेकिन मौत भी है अभी
उससे दूर... बहुत दूर
अपने परिजनों की तरह।"[19]

इस प्रकार एक भोगवादी पीढ़ी द्वारा वृद्धसदनों में उपेक्षित रिश्तों के लिए बहुत सारे रुपए ख़र्च कर दिये जाते है पर अपनी ममता-प्यार नहीं। संबंधों के प्रति वर्तमान पीढ़ी के मुनाफाधारित दृष्टिकोण का पर्दाफाश विनय विश्वास अपनी कविता 'बूढ़ा' में करते हैं। बूढे पिता के मर जाने तक उनपर आरोप लगाये जाते हैं कि वे आने-जानेवाले को घूरते हैं, सफाईवाली से मज़ाक करते हैं, ढंग से कपडे नहीं पहनते हैं, सारी रात खाँसते रहते हैं। मर जाने के बाद की चिंता है-

"वो बडा अच्छा था
आटा पिसवा लाता था
सफाईवाली से अच्छी तरह सफाई कराता था
सादगी से रहता था
बच्चों को खाना सिखाता था
उसके रहते घर को ताला नहीं लगाना पडा कभी
बुजुर्ग आदमी का तो होना ही बहुत होता है।"[20]

महानगरीय जीवन में बूढ़े इस प्रकार के कई तरह के काम के आते हैं, वे 'परिवार' के नहीं, 'घर' के लिए बडे ही फायदेमंद रहते हैं, कुत्ते की अकेली मौत

मरते हैं। आधुनिक सभ्यता में 'घर' और 'परिवार' के बीच का पाई इतना विस्तृत हो चुका है कि एक घर में बसना, संबंधों को अच्छी ढंग से बनाये रखकर एक परिवार बसाने का सूचक नहीं रहता है। घर में माता-पिता के रहते हुए भी बच्चे अकेले हो जाते हैं, संतानों के रहते हुए भी बूढ़े माँ-बाप को उनसे अलग रहना पडता है।

संबंधों के धरातल पर आजकल आर्थिक सौदेबाजियाँ शुरु हो गई हैं। यांत्रिकता और आर्थिकता संबंधों की कोमलता को चुरा लेती है और सारे संबंध व्यावसायिकता की दृष्टि से देखे जा रहे हैं। संबंधों के बनने बिगडने में धन का प्रभुत्व काम कर रहा है, लाभ-हानि की सोच प्रमुख रहती है। एक ओर पीढ़िगत वैचारिक मतभेद रक्त संबंधों में भी दरार करता है तो दूसरी ओर अकेलेपन और अलगाव का बोध भी सशक्त होता जा रहा है। व्यक्ति स्वतंत्र अस्तित्व के विकास के लिए, युगानुरुप बनने के लिए संबंधों के डोरों को कभी-कभी बाधा समझता है, उनसे बच पाना भी चाहता है। घर का वातावरण बाज़ार की लेन-देन नीति को अपनाने लगता है ति कवयित्री बताती है कि आपसी प्रेम ही वह तत्व है जो मकान को घर बनाता है। संबंधों की आत्मीयता को बचाते रखना है। नीलेश रघुवंशी की पंक्तियाँ हैं-

"प्रेम करते हैं हम
एक दूसरे से अलग हो नहीं सकते।
घूमते हैं संग-संग आसमान में
आते ही धरती पर
अजीब सी संवादहीनता छा रही है हमारे बीच।"[21]

आज विश्व बाज़ार के सारे दरवाज़े खुल गए हैं जिनकी ओर मानव भटक रहे हैं। लेकिन अपने घर के दरवाज़े और खिडकियाँ बन्द रखकर सामाजिक-वैयक्तिक संबंधों से अलग रहते हैं। 'खुशबू' कविता में कवि पंकज राग आवाज़ उठाते हैं कि हम साथ नहीं खिलते हैं, साथ नहीं फैलते है हम अपनी माँओं को याद भी नहीं करते हैं। हम अपने घर और बाज़ार को जोडकर वयस्क दिखते हैं और अपने-अपने दरवाज़ों के झुके-झुके से खिडकियाँ नहीं खोलते हैं। आज इतने सिकुड गये हैं कि दूसरों की आवाज़ से अनभिज्ञ रहते हैं।

मानव की सारी अवधारणाएँ आर्थिक दायरे में सीमित होकर संस्कृति को अपने में समेट लेती है तो संबंधों को बाज़ार की अर्थनीतियाँ संशोधित कर रही हैं। धन और मन के समझौते में धन की दमननीति का ही राज रह जाता है। चीज़ों का-बाज़ार का घातक आकर्षण मनुष्य को खतरनाक और दर्दनाक ईरादों की ओर दिशा निर्देश करता है। नरेश कुमार उदास की कविता 'आदमी इतना गिर गया है' इस स्थिति के मद्देनज़र पठनीय बन जाती है-

"वास्तव में आदमी आदमी नहीं रहा
निरा व्यापारी बन बैठा है
और इतना गिर गया है कि बेटा कभी माँ से
तो कभी बाप से सौदेबाजी कर रहा है
और अपने सफल भविष्य के लिए
उनके सीने
चीक कर रहा है।"[22]

घरों में अब ख़ालीपन को चीज़ों से भर देने की आदत पड गई है। बीचों-बीच आदमी की हालत उनकी तरह हो रही है। संबंधहीनता और संवेदनशून्यता के कारण ख़ाली हो चुके घरों को, मौन हो चुके कमरों को बाज़ार में उपलब्ध निर्जीव चीज़ों से भर देने की कोशिशों के अन्तिम दौर में उन्हीं चीज़ों के बीच प्रतिक्रियाविहीन माल के समान मानव भी लगने लगेगा। अपनी पहचान को क्रयशक्ति के आधार पर सिद्ध करने का इच्छुक मानव समाज से विश्रृंख़लित होकर अपना एक संसार रचता है। एक ओर संयुक्त परिवार की परंपरा टूट जाती है तो दूसरी ओर अणुपरिवार में भी संबंधों की दृढ़ता स्ख़लित हो जाती है। राजेश जोशी की पंक्तियाँ हैं-

"बाबा को जानता था सारा शहर
पिता को भी चार मोहल्ले के लोग जानते थे
मुझे नहीं जानता मेरा पडोसी मेरे नाम से
अब सिर्फ एलबम में रहते हैं
परिवार के सारे लोग एक साथ
टूटने की इस प्रक्रिया में क्या-क्या टूटा है
कोई नहीं सोचता।"[23]

बाज़ार ने अनेक उदार रास्ते ख़ोलकर व्यक्ति को ऐसे एक असमंजस में डाल दिया है कि वह अपने घर का रास्ता भूल गया है। सूचना- प्रौद्योगिकी के विभिन्न नवीनतम आविष्कारों के बहाव में आज की पीढ़ी फेस-बुक मित्र बना लेती है, दूर-दूर के देशों तक उनकी पहूँच है, बल्कि अपने पास बैठनेवाले या पडोस में रहनेवाले से सर्वदा अनभिज्ञ रहती है। संबंध बनाने में उत्तराधुनिक मानव ने अपनी गति

हासिल कर दी हैं, उसी तेज़ी से ही संबंध टूट भी जाता है। अपनी सारी पुरानी स्मृतियों को कुचलकर चले जाने के बाद सौ बार माँगने पर भी वे वापस नहीं मिलती। एकांत श्रीवास्तव की कविता 'मेरा घर' इसी संवेदनात्मक सूचना देती है-

"फिर एक दिन मैं घर से निकला
और रास्ता भटक गया
इतने सारे रास्तों में
जाने कहाँ खो गया वह रास्ता
जिससे होकर मैं पहूँचता था मेरा घर।"[24]

कवि को मानव की इस धुविधाजनक हालत को लेकर आहत है। उपभोक्तावादी पश्चिमी संस्कृति के साथ चलनेवाली एक पीढ़ी को सामाजिक-सांस्कृतिक ज़रूरतों से दूर भागते देखकर कव चिंतित होते है कि दुनिया जब से बेहद-बेहद पास आ गई है लेकिन पास-पास की सारी चीज़ें दूर हो गई हैं। रिश्ते गायब हो गये हैं। विश्वगाँव में परिवार की संकल्पना व्यापार में बदल गई है।

वैश्वीकरण में दुनिया के सारे गाँव एक हो गए हैं, पर इसका मतलब केवल आर्थिक रहा है। सौदेबाजी में लगे एक समाज में इन्सानियत और रिश्ते भी बाज़ार की चीज़ें हैं। संबंधों में ऐसी अनिश्चितता और धुँधलापन है कौन दोस्त है कौन शत्रु, जहाँ आधुनिक हत्यारे खुले आम घूम रहे हैं। आदमी की संवेदना और अहसास पूँजी पर टिकी रहती है तो संबंधों को रुपयों में क्रय-विक्रय कर सकता है। सुधा उपाध्याय पूछती है-

"रिश्ते की परवरिश के पहले
सुनी हो सिक्कों की खनक

छोटी-छोटी चीज़ों की कीमत

वे कैसे समझे"[25]

आत्मीयता नष्ट हो चुकी संवेदना को लेकर सौदेबाजी करते मानव प्यार, ममता, विश्वास और सहारा नाम की छोटी चीज़ों का बाज़ार भाव कैसे जान पाते हैं? ऐसी बहुमूल्य भावनाओं का अवमूल्यन करके उन्हें अवांछनीय बना देने मं बाज़ार का हाथ बेहद बडा है। मानवता को इतने क्रूर दौर से गुज़रना पड रहा है कि पिता बीमार हो जाने पर पुत्र यह सोचता है, अब पिता की उमर हो गई है।

वैश्वीकरण से नज़दीक आयी दुनिया में अविश्वास और निषेध का वातावरण भी खूब फैला जा चुका है। मकानों की निस्पन्दता में घर का सुरक्षित वातावरण कभी भी नहीं मिल सकता। नरेश चन्द्र पुष्प इसी निराशा को व्यक्त करते हैं-

"घर की वह मज़बूत नींव

वह चहार दीवारी

वह खुली छत

अब कहीं ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती

वह जीवंतता वह स्पन्दन

वे संवेदनाएँ।"[26]

बाज़ार प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर चलता है। व्यक्ति के भीतर लालच और तृष्णाएँ भरकर उन्हें पूरा करने के लिए दौडा देना बाज़ार की कला है। बाज़ार की चौहद्दियों के विस्तार करने के लोभ में व्यक्ति अपनी अस्मिता को भी भुलाकर, आपसी संबंधों को धकेल देते हैं। रिश्तेदारों- मित्रों का मिलना-जुलना आज लगभग

समाप्त हो चुका है। ज़िन्दगी की आपाधापी, पूँजी संग्रह, निजी उपभोग आदि के कारण ख़ून के रिश्तों में भी दरार पड गई है। एक दूसरे की सुख्र दुःख्र की चिन्ताएँ समाप्त हो रही है। व्यापार, लेन-देन और ख्ररीद- फरोख्त की आवाज़ें रिश्तों को अजनबी बना देती हैं। समकालीन कवि के लिए ख्रास अर्थ में यह बाज़ार का समय है जहाँ संबंधों के बनावटीपन को नकारकर उन्हें पुनः ईमानदार बना देना अति-आवश्यक बन गया है। उषा यादव की कविता बाज़ार के सामने एक 'चुनौती' रख्रती है-

"अच्छा अगर नेह बहन का
ममता माँ की
दुलार बेटी की
और एकनिष्ठ लगाव पत्नी का
ख्ररीदकर लाओ
ख्रर्च करके पैसा
तो मानूँ, तुम्हारे बाज़ार में सबकुछ मिलता है।"[27]

कविता ज़िन्दगी के हर मोड में सकारात्मक हस्तक्षेप की बात करती है। चीज़ों के पीछे अंधाधुंध दौडते आदमी को यह याद दिलाती है कि जीवन में संबंधों की, संवेदनाओं की, सपनों की अपनी जगह होती है। उनकी रिक्तता की पूर्ति बाज़ार नहीं कर सकता।

4.4 मूल्य और बाज़ारीकरण

शोषण के नव तंत्रों को बुननेवाले बाज़ार ने मानव के सारे बुनियादी तत्वों को धनतंत्र पर हावी होने दिया है। जीवन में सच्चाई, ईमानदारी, दया, नैतिकता जैसे

मूल्यों को अर्थशास्त्र में विनिमय को आगे बढ़ानेवाली चीज़ों के बाज़ार मूल्यों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। व्यक्ति को बुरी तरह असामाजिक, व्यक्तिवादी और स्वार्थी बना देकर उनकी पूरी संवेदनाओं से उन्हें अलग कर दिया गया। समय ने संस्कृति का अर्थ 'धन' बना दिया है और अपनी बहुमूल्यताओं को एक 'मूल्य' के सामने न्योच्छावर करने को मानव मज़बूर हो जाता है। आधुनिकता के नाम पर थोपी जा रही एक सभ्यताहीन संस्कृति मूल्य पराभव और नैतिक गिरावट में परिणत हो जाती है। बाज़ार की सूचनाओं से भरे हुए दिमाग के इशारे पर चलनेवाले मानव में विवेक और चिन्तन की पूरी ताकत चुप रह गई है। समकालीन कवि इस अनैतिक चुप्पी में सार्थक हस्तक्षेप करके बाज़ार की नीलामी सूची से मूल्यों की रक्षा करने की बात करते हैं।

मदन कश्यप लिखते हैं-

"एक अजब मुर्दालोक है
जहाँ शब्द और विचार पूरी तरह मर चुके हैं
हत्यारों के अट्टहास और हताहतों की चीख़ के बीच
केवल सन्नाटा है
लोग या तो एक-दूसरे को मुलुर-मुलुर देखते रहते हैं
अथवा मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं।"[28]

व्यावसायिक गतिविधियों से रफ्तार पकडनेवाली दुनिया में बहुत सारे मूल्य रौंदे जा रहे हैं। शंभुनाथ ने व्यापार की दुनिया में नैतिकता की नियति की ओर इशारा करके बताया था कि मुक्त बाज़ार-व्यवस्था की माँग मुक्त नैतिकता यानी व्यक्तियों द्वारा स्वनिर्मित नैतिकता है। यह वैश्विक अर्थ व्यवस्था, आम लोगों के प्रति

नैतिक उत्तरदायित्व महसूस नहीं करती है। उसमें दुर्बल पीडित के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। उसका एकमात्र लक्ष्य व्यापारिक नियमों से जीवन चलाने का है। व्यापारिक नियमों में जीवन का हस्तक्षेप नहीं होगा, संबंधों का हस्तक्षेप नहीं होगा।

बाज़ार की नियमावली के अनुसार नैतिकता और मूल्य पारिभाषित किये जाते हैं। जीवन के सारे उदात्त, श्रेष्ठ तत्वों को 'अर्थ' के साथ जोडकर अनैतिक बना दिये जाते हैं। आधुनिक संचार माध्यमों का बडे ही कुशल ढंग से इस्तेमाल करके नव साम्राज्यवाद जनता को अराजकतावादी और अनैकतावादी बना देने में सफल हो चुका है। धन की ताकत पर, सब कुछ को खरीद सकने के विश्वास को सारी जीवन-प्रक्रियाओं में आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता के रूप में भर देने से सामाजिकता के निर्णायक तत्व के रूप में धन प्रविष्ट हो चुका है। ज़रूरतों की संस्थाकृत उत्पादन, उपभोक्तावाद है, जो नयी इच्छाओं का जनक और निराशाओं का दर्शन भी बन जाता है। नव विज्ञापनों के नैतिक दायित्व पर कवि लीलाधर जगूडी न्यंग्य करते हैं-

"पर विज्ञापनों ने समाज की कुछ नैतिक सेवाएँ भी की हैं
एड्स के डर को कहीं ज़्यादा फैलाकर पत्नी को
पतिव्रता और पति को पत्नीव्रत बना दिया, जो
कोई धार्मिक कथा न कर पाई।
इसका श्रेय कंडोम बनानेवाली कंपनियों को जाता है
जो अपने मुनाफे का पाँच प्रतिशत एड्स के प्रचार
पर खर्च करती है।"[29]

बाज़ार में प्राथमिकता उपभोग और उपयोगितामूल्य की है। अर्थ ने हमारी जीभ को गुलाम बना दिया है। बाज़ार में न काम आनेवाले मालों में आह भी

शामिल है, चुप्पी भी, चीख़ भी। ख़रीद-बिक्री में निरीह प्राणी की चीख़ का कोई उपयोगितामूल्य नहीं है। कैलाश वाजपेयी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

"आज तक कोई उपयोग न कर पाए हम
तुम्हारी चुप चीख़ का
हमें माँफ करना माँ
बाज़ार में आह का कोई मूल्य नहीं।"[30]

सौदागर या उपभोक्ता बनते जाते लोग समझते हैं कि भौतिक सफलता और आर्थिक संपन्नता ही एक पूर्ण ज़िन्दगी का प्रमाण है। सहजीवियों के प्रति संवेदना उनके जीवन से निष्कासित हो चुकी है। समकालीन परिदृश्य असभ्यता को भी मूल्य के रूप में पेश करता है, बशर्ते कि धन का प्रभुत्व हो। बाज़ार की अवांछनीयता को पूरा समाज भी तिरस्कृत दृष्टि से देखता है, चाहे वह मानव के परम मूल्य भी क्यों न हो। बाज़ार की माँग के अनुरूप भावनाएँ उत्पन्न करके उनकी सौदागरी करनेवालों को भी वर्तमान ने जन्म दिया है। किस तरह दुःख को बाज़ार के उपयोगी बना दिया जाता है, भगवत रावत इन शब्दों में उसे अंकित करते हैं-

"सब कुछ को ख़रीदने की आदत
छुटपन से ही पडी हुई है
उसको पहले वे ख़रीदते हैं
फिर थोडा-काट-छाँट कर
रंग रोगन से उसकी चुभती सी आकृति को
दर्शनीय मुद्रा देते हैं।"[31]

अतः आज दुःख भी बाज़ार में बिकता है, उसका बाज़ार भाव तय किया

जाता है, उसके ख़रीदार भी बहुत अधिक होते हैं। बात तो यह है कि वह अवश्य ही दर्शनीय साज-सँवार के साथ बाज़ार में उपस्थित हो।

आज सच्चाई की अनुपस्थिति का समय है। झूठ को अपने नये परिधान में सच समझकर हम उसके क्रय-विक्रय करते हैं। सच को छिपाकर काम चलानेवाले इस तदर्थ युग में सबको नतमस्तक करनेवाली उन्नत कला है रफूगरी। मदन कश्यप उससे सावधान रहने की बात करते हैं-

"झूठ के पास है सबसे सुन्दर परिधान
कीमती आभूषणों से लदा है झूठ
झूठ की अदाएँ सबसे मारक है
उसके इशारे पर नाच रही है दुनिया।"[32]

झूठ के नव-सिद्धान्तों के हम प्रायोजक बन जाते हैं। विज्ञापनों द्वारा, विकास के नये-नये वादों के द्वारा शोषण के नये औजार फैलाये जाते हैं, जिनका नींव बडे झूठ पर आधृत है। कवि यह सोचकर बेहद निराश है कि सच तो पहले भी पराजित होता रहा है पर इतना हताश पहले कभी भी नहीं दिखाई देता था।

बाज़ार ख़ुशी ही बाँट रहा है, या ऐसा बहावा दिखाता है। अपने चमकते रूप बनाये रखने के लिए बाज़ार जिन-जिनको छिपा-हटा रहा है कवि उनको देखते है, बेबाकी से उनका चित्रण करते हैं। मंगलेश डबराल का वक्तव्य है-

"इन दिनो रुदन कहीं से भी उठने लगता है
आँसू किसी भी जगह दिख जाते हैं
चमचमाते बाज़ार अपना अंधकार अपने पिछवाडे में भेजते रहते हैं

उसे पार करते हुए लगता है एक नदी बह रही है
जहाँ भिखारी, पागल अनाथ बच्चे
बेसहारा पशु लहरों की तरह है।"[33]

कवि कह देते हैं कि इन दिनों लोगों का प्रमुख व्यवसाय पैसे का शिकार करना रह गया है। आम आदमी के विलाप और स्वप्न के पेटेंट बाज़ार ने हासिल कर दिया है। बाज़ार देह की भाषा में बोलता है, आत्मा की भाषा में नहीं। आदमी के सपनों में भी बाज़ार आ बसा है। समय ख़ुरदुरा होकर भी बाज़ार कभी भी अपना कुरूप प्रदर्शित नहीं करता है। 'बाज़ार के बारे में कुछ विचार' राकेश रोहित के अनुभव का साक्ष्य बन जाती है-

"आप किस ओर है यह प्रश्न
आपकी नियति से नहीं
आपकी जेब से जुडा है
यदि आप समर्थ है तो
आपका स्वागत है वैश्विक गाँव में
जो मध्ययुगीन किले की तरह
ख़ूबसूरत बनाया जा रहा है।"[34]

समकालीन कविता अपने समय की एक समर्थ काव्यानुभूति का सृजन करती है जहाँ मूल्य की सारी अवधारणाओं के ऊपर प्रविष्ट होनेवाली भोगवादी सभ्यता के बढे नाख़ून स्पष्ट दिखाई देता है। कविता हमसे पूछ रही है कि झूठ को सच की तरह घोषित करने, समर्थन करने की कोशिश करनेवाले बाज़ार की गंध में जीना

कैसा जीवन है। यह प्रश्न मूल्यविघटन पर बहस चलानेवाले बुद्धिजीवी वर्ग को आत्मशोधन के लिए फेंका गया प्रश्न है। सच को सच, और झूठ को झूठ कहने का धीरज अब बहुत विरल ही दिखाई पडता है।

बाज़ार की सर्वग्रासी विलासिता ने आदमी में क्रूरता और हिंसा को सार्वजनिक आदतों के रूप में समाया है। हम अपने सामाजिक जीवन को निजी स्वार्थता में छिपा देते हैं। एक अपसंस्कृति को ही नव संस्कृति के नाम पर फैलाया जा रहा है। अपने को पराजित समझनेवाले एक समाज में असभ्यता ही बडे सहज तरीके से अपना काम चला सकती है। अपने जीवन को, इंसानियत को, प्रतिबद्धताओं को बेचते रहते है आधुनिक समाज। मदन कश्यप की पंक्तियाँ हैं-

"ख़रीद-फरोख्त के इस युग में
निष्ठाएँ और प्रतिबद्धताएँ ही नहीं
आत्माएँ और संवेदनाएँ भी बिक रही हैं
सस्ते में बिक गई जम्हूरियत
हम अब और क्या बेचेंगे
क्या-क्या ख़रीदेंगे।"[35]

समाज की नियति को लेकर कवि व्याकुल है। चीज़ों के प्रति मानव की भूख और प्यास बढ़ाने के साथ साथ आदमी को अपनी असलियत से विश्रृंखलित कर देने का काम भी बाज़ार कर रहा है। जब से विश्व का बाज़ार घर में दाख़िल हो गया तभी से ही मानव को एक मशीनी दैत्य चुपचाप निगल रहा है। बढ़ता रहा बाज़ारवाद का मनोविज्ञान मानव के स्मृतिपट में निवेश करके अनजाने तरीकों से उसे दबाता रहा है। इसी अव्यवस्था को ज्ञानेन्द्रपति शब्दबद्ध करते हैं-

"पूँजीवाद की राह बनाता यह रंगीन रोडरोलर
तुम्हारे स्मृतिपट को पथ बनाता है
तिजारती यातायात का
जिसके रंग-बिरंगे ट्रेफिक संकेतों के गुप्त नियंत्रण-कक्ष में
जलता है
सबकुछ बेचने-ख़रीदने के युगबोध का स्पिरिट लैम्प
अपनी लौ पर हठी मन को काँच की नली की तरह मोडता हुआ।"[36]

अर्थोपार्जन की प्रक्रिया में नैतिक मूल्यों का साथ निभाना आदमी के लिए असंभव हो जाता है। धन आदमी की वैचारिकता पर अंकुश लगाता है ताकि वह सोच-समझ-बहस न कर सके। जीवन का मतलब सुख़ का एक क्षण घोषित किया गया है जिसे बाज़ार की ख़ुशियों में ढूँढ ले। बाज़ार की प्रक्रिया ने आम मानवीय जीवन को ख़तरनाक ढंग से दबोच लिया है, अब आदमी, या आदमीयत का दौर नहीं है बाज़ार का दौर आया है। अर्थ के पीछे के भागदौड के बहशी दौर में जीवन शैली के साथ एक समाज की चिंतनशैली भी बाज़ार की ओर मोडी जा रही है। समकालीन हिन्दी कविता बाज़ार की इस निवेश पद्धति के दुष्परिणामों से आगाह करती है। पंकज राग '1857 के डेढ़ सौवें वर्ष में' कविता में सूचित करते हैं-

"भौतिक जगत से लेकर
अंतर्चेतना तक चलता है निवेश का ख़ेल
तभी तो अब ख़तरे साफ नहीं नज़र आते
वक्त इतनी तेज़ी से बीतता है ख़िलौनों के बीच
कि विचार बन नहीं पाते, नज़रें टिक नहीं पाती
जीवन शैली का अर्थ मानो एक क्षण हो गया हो।"[37]

मनुष्य के अन्तः विवेक पर बाज़ार का पूरा कब्जा है। बहकानेवाले प्रचार करके मानव मन को उनके सारे विकल्पों से वंचित रखा देता है। आत्महीनता की भावना भर देकर, सच्चाई पर केन्द्रित दृष्टिकोणों को मनुष्य की अंतर्चेतना पर तक ऐसा पर्दा डालकर, धुँधला करा देता है कि समय के खतरे भी दिखाई नहीं पडते हैं।

बाज़ार ने साबित कर दिया है कि जीवन का मतलब सिर्फ खरीद-बिक्री की प्रक्रिया से है। ज़िन्दगी उत्पादन-विपणन के अंतर्गत प्रायोजित की जानेवाली निरर्थकता है।

बाज़ार इस तरह सुख-क्षणवाद को प्रोत्साहित कर रहा है और बता रहा है कि जीवन के तमाम आविष्कारों का कॉपीराइट उसके पास है और जीवन और मृत्यु को प्रयोजित करने की ताकत भी उसमें है। बाज़ार इतनी अधिक संस्कृति विरोधी स्थितियाँ उत्पन्न कर रहा है कि ये मनुष्यविरोधी भी होकर एक आन्तरिक विकास-शून्य समीकरण की ओर ले जा रहा है। मानव की बुनियादी अंतरंग पहचानों को बाज़ारीकृत किया जा रहा है। अतः कवि लीलाधर जगूडी पूछते हैं-

> "कोई बतानेवाला है, कोमलता, सहानुभूति और क्रोध
> ये किस कंपनी के पेय पदार्थों के नाम होंगे परसों
> सारे लापता गुणों की गारंटी दी जानेवाली है
> अद्यतन शैली में बढ़नेवाला है
> कोई और तरह का रुचि उत्पीडक बाज़ार।"[38]

समाज इतना अवसरवादी और मौकापरस्ती सोच का शिकार बन गया है, अपना हित साधने हेतु किसी भी अन्याय से समझौता करने को तैयार है। बाज़ार में

अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने के युद्ध में सब शामिल हो जाते हैं तो अत्याचार और अनाचार के प्रतिरोध करने की ताकत सुप्त हो जाती है। मानवीयता के संबल पर टिकी सारी संभावनाएँ और सद्भावनाएँ ऐसी ही ख़तम हो जाएँगी। समाज एक ऐसी प्रयोजित ज़िन्दगी जीने के विवश होंगे, जिसमें स्वार्थता का ही राज रह जाएगा। कुमार अंबुज की भविष्यवाणी 'क्रूरता' कविता में स्पष्ट झलकती है कवि कह देते हैं कि धीरे धीरे क्षमाभाव समाप्त हो जाएगा और प्रेम की आकांक्षा तो होगी मगर ज़रूरत न रह जाएगी। पाने की बेचैनी और खो देने की पीडा ज़रूर झर जाएगी। क्रोध संगाठित हो जाएगा और अपना आक्रमण कर देगा। एक अनन्त प्रतियोगिता होगी जिसमें लोग पराजित न होने के लिए नहीं अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए युद्धरत हो जाएँगे। बाज़ार इन सारी हरकतों के बीज बोता रहता है।

क्रूरता ही संस्कृति बन जाएगी तो उसका विरोध कोई भी नहीं कर सकता। कवि यह भी याद दिलाते हैं कि हँसी में छिपी चालाकी को, संवेदना में छिपी हिंसा को हर रोज़ पहचानना होगा, उससे लडना होगा। भोगपरक जीवन ज़िन्दगी की सारी विविधताओं को एकायामी बना देता है। बाज़ार के युग में विलासिताएँ जीवन की अनिवार्यताओं में बदल चुकी हैं। पहले से भी अधिक मात्रा में सुख के साधनों के होते हुए भी दुःख ज़्यादा फैल गया है, जिसके कारक बदल गये हैं। बाज़ार आज संवेदना को केन्द्र बनाता है। मन और दिमाग को लुभाने की सूक्ष्म प्रविधियाँ अपनाकर कला और विज्ञान को संवेदनशून्य बना दिया है। नैतिकता के नए-नए सवाल उठाते जा रहे है। मूल्य विघटन के नाम पर बहस चलाये जा रहे हैं। नैतिकता और अनैतिकता की सीमा रेखाओं को न समझ पाने की हताशा में आम आदमी बाज़ार में खडे होकर पूछ रहा है कि अपनी अस्मिता को प्रामाणित करने के लिए और क्या-क्या बेचना है। महेश संतोषी की पंक्तियों में भी यही सवाल है-

"धर्म और अधर्म के बीच
व्यापारिक भागीदारियों से
पोथियों में सिमट गई हैं नैतिकता
चौराहों पर बिक रहे है धर्मपिता
कभी मूल्यों को ओढ़कर
तो कभी मूल्यों को छोडकर
लोग बेच रहे हैं अपनी-अपनी अस्मिता
मैं बाज़ार में खडा हूँ और सोच रहा हूँ क्या बेचूँ
अपना धर्म, अपनी नैतिकता या अपना धर्म-पिता?"[39]

आज बाज़ार भाव चढ़ाने के लिए गहरी क्रूरता, कुछ चालाकी, अनेक प्रकार के दोहरेपन को अपनाना ज़रूरी पड गया है। 'एक कवि की बिक्री' कविता में बद्रीनारायण यह कहने को भी विवश हो जाते है कि इतना भी करके भाव न बढ़े तो हँसते दूसरों को मारते जाने की कला में भी पारंगत होना पड जाएगा, तभी बाज़ार में बिक्री के लिए उपस्थित हो सकेगा। बद्री नारायण की कविता 'गडेरिया' भी मूल्यों की बिक्री पर मुठभेड प्रहार करती है। बाज़ार एक शिकारी की भाँति मानव के ऊपर लाभ और इच्छाओं का क्रूर संसार फैलाता है। बुद्धि, विवेक और आध्यात्म तक को 'पैक' करके 'रेडी टु यूज़' रुप में सप्लाई करनेवाले उपनिवेश तंत्र में भूख, गरीबी और जलालत को विश्व बाज़ार में, रुलाई और उदासी को कला बाज़ार में उत्साह से बेचा जा रहा है-

"अस्मिता को बेचता, बेचता अपनी गैर की व्यथा को
संघर्ष करने निकला योद्धा संघर्ष के वृत्तांत को बेचता

जिस भाव से सामंजस्य बेचता

उससे महंगे में अंतर्विरोध को।"[40]

अपनी मुर्दानगी और उल्लास को विज्ञापित करके अपने आपको अपने से अलग करके बेचने में मानव अपनी सफलता मानता है। आजकल मानवता का बाज़ार भाव बहुत गिर गया है। सहजता नष्ट कर देना बाज़ार की आदत है। बाज़ार के लिए दिखावट ही मुख्य है। मंगलेश डबराल की पंक्तियाँ हैं-

"यहाँ रखी गई चीज़ों का कोई विकल्प नहीं है
फर्क सिर्फ यह हे कि जो कुछ आम तौर पर
जिस तरह दिखता है वह उस तरह नहीं होता
यह बाज़ार का एक ठोस आध्यात्मिक आधार है
इसलिए चमत्कारों का उत्पादन सबसे बडा व्यापार है।"[41]

आदमी का रास्ता घर और बाज़ार के बीच तय किया गया है। अपने होने की सूचना दिये बिना सुख-मग्न चुप्पी साधकर, अन्याय के विरुद्ध आवाज़ न उठाकर एक नीरस ज़िन्दगी में भोगरस की खोज कर रहा है पूरा समाज। 'मोर-नाच' कविता में बद्रीनारायण बता देते हैं कि पूरी ज़िन्दगी एक शिकार बन गयी है। अपने दैनंदिन जीवन के किसी एक क्षण में आदमी ज़रूर एक शिकारी में तब्दील होता जा रहा है और वर्तमान जीवन में शिकारपन का असर उतना गहरा और व्यापक बन गया है।

अन्याय और अत्याचार को धूल की तरह झाड देकर लोग बाज़ार और घर के बीच एक ऐसे माहौल में जी रहे हैं जहाँ खुशियों की तलाश और भौतिकता का

आग्रह मात्र रहता है। कवि इस माहौल के इतना अधिक खिन्न और चिन्तित हो उठते हैं कि आज कोई अन्याय महसूस तक नहीं करता, चिल्ला उठने की आदत भी गायब हो चुकी है। 'भूमण्डलीकरण' में मंगलेश डबराल वस्तुस्थिति पर जागृति भरते हैं-

"कहीं से तुरंत कोई खुशी खोजकर ले आते हैं
उसे जमाकर लेते हैं अपने पास
जैसे वह सिर्फ उनके लिए ही बनी हो
बहुत सारे कपडे और जूते पहन लेते हैं
बहुत सारा खाना खा लेते हैं
एक महंगा मोबाईल निकालते हैं
अपने अश्लील संदेशों के साथ।"[42]

ज़िन्दगी बाज़ार द्वारा मुहैय्या किये जा रहे डिब्बाबंद खाद्य पदार्थों, सिले-सिलाए कपडों, संचार की टुच्ची सुविधाओं में घुटकर रह गई हो, संवेदना के स्रोत लुप्त होते जा रहे हो, अपने अलावा आदमी के लिए शेष संसार लगभग बेमानी हो चुका हो वहाँ विचारों में अराजकता आ जाती है। समय की विद्रूपताएँ अनजाने तरीके से आदमी को परास्त कर चुकी हैं। धरती को निगलनेवाले पॅलिथिन के समान मिट्टी में न पचनेवाली, पानी में न गलनेवाली अमानवीय सहजता के दिखावट के युग में, मनुष्य विरोधी शक्तियों का मुकाबला करना कवि कर्म बन गया है। अपनी आत्मा की नीलामी की मुनादी को पहचानकर सौदागरी के युग में हो सको तो सिर्फ अपनी आत्मा को बचा लेने का आह्वान कवि करते है-

"बच सको तो बचो मेरे आदमी
अपने भीतर आकार ले रही
अपनी इस क्रूर आत्मा से।"[43]

मनुष्यता की महक को बचाते रखनेवाले कवि हिंसा, स्वार्थता, लूट-मार की दुनिया में अपनी बुनियादी पहचान को सिद्ध कर सकते हैं। कवियों द्वारा उठाया गया अभियान और प्रतिरोध बाज़ार की निर्विकल्पता में आदमियत का विकल्प हासिल कर देते हैं। अरुण कमल की पंक्तियाँ हैं-

"और मैं बच गया
आग में पडकर भी जला नहीं
क्योंकि अभी गीला था
अभी भी कुछ हरा था।"[44]

यह गीलापन और हरापन मानवीय संवेदना का है, बाज़ार से लडने के लिए इसे बचाते रखना पडेगा। समकालीन कविता अपने समय की इस ज़रूरी समझ से लैस है। बाज़ार में मनुष्यता के रूपान्तरण की प्रक्रिया को, घोर प्रदर्शन के युग में, बहुत कुछ धीरज बाँधकर समकालीन कवि साफ ढंग से पकड लेते हैं। कवि समझ पाते हैं कि मनुष्य की जीवनी-शक्ति को अवरुद्ध करनेवाली तमाम प्रक्रियाओं के विरुद्ध सम्बल जुटाना युगनीति बन जाएगा। बेचैन मानवता के समय में अपने बचे-खुचे विवेक को, बहु आयामी और बहुफलकीय बनाना होगा। कवि अपनी कविता को हथियार बन जाने की संभावना से भर देते हैं। कवि आत्मविश्वास से कह देते हैं-

"आज मैं यकीन के साथ कह सकता हूँ
कि उस सुगंध को
जो मिट्टी की देह और मनुष्य की साँस को
सुवासित करती है
मैं बचाये रख सका हूँ।"[45]

समकालीनता की कडवाहट झेलते हुए भी, सौन्दर्यबोध की सहजता में कवि संघर्ष के संकल्प को भी मिला देते हैं।

4.5 धर्म और बढ़ती सांप्रदायिकता

सच्चाई और न्याय पर आधृत एक जीवनादर्श की रचना के लिए, संस्कृति के विकास क्रम पर धर्म का गठन हुआ था और जब बाज़ार आदमी का आदर्श बन चुका तभी से धर्म की राजनीति बदलने लगी और व्यावसायीकरण की ओर बहने लगी। धर्म आज साम्राज्यवादी शोषण की नई कूटनीति बन गया है और आध्यात्मिकता के चश्मे मूल्यहीन बनकर भी महंगे बन गये हैं। सामान्य जनता की आस्था-आकांक्षा की स्तरीय लूट के सफल औजार के रूप में वर्तमान राजनीति भी धर्म का इस्तेमाल कर रही है। धार्मिक आस्था को लेकर राजनीति में जो सौदेबाजी हो रही है, चुनाव में वही आजकल बहुत ही कामयाब निकलती है। धर्म और जाति को लेकर राजनीतिक दलों की स्थापना आधुनिक बाज़ार की माँग बन गई है, जहाँ मुनाफाधारिता ही काम करती है। धर्म के क्षेत्र को इतना विशाल बना दिया गया है कि वह पूँजी निवेश का एक बृहत आर्थिक संस्था या निगम बन गया है।

धर्म और राजनीति के संयुक्त तत्वाधान में जो अमानवीय हरकतें मानता के विपक्ष में चल रही हैं समकालीन कविता इसके प्रतिपक्ष में खडी रहकर उनकी सडी-गली आर्थिक नीति को व्यक्त करती है। धर्म पर आधृत एक निरंकुश सभ्यता अपने व्यापारिक हितसाधक क्रियाकलापों के साथ उपस्थित होती है तो कवि इसकी कुरूपता का खुला चित्रण करते हैं-

"वफादार वफादार हैं
जो पहले कर रहे थे, आज भी वही कर रहे हैं

जिनके ताबेदार पहले थे उन्हीं की चिलम
आज भी भर रहे हैं
कल तो वे ही धर्म की राजनीति और
धर्म का व्यापार चला रहे हैं।"[46]

बाज़ारीकरण के दौर में धर्म और राजनीति का अतिवाद अपनी चरम सीमा पर है। पंकज पराशर का उक्त कथन धर्म के व्यापार के बहु आयामी धरातल की ओर इशारा करता है। धर्म का व्यवसाय आज मुनाफे का बेहतर संसाधन कर सकता है। अरुण कमल की कविता 'एक भक्त का संवाद' मन्दिर और भक्त के बीच ईश्वर के गायब होने के अजीब तरीके पर व्यंग्य करती है। धर्म का वर्तमान एक प्रायोजित कार्यक्रम है। मन्दिर के हर एक कोने में दाताओं के नाम पट्ट लगे हुए हैं। ईश्वर के दर्शन के लिए आए हुए भक्त को इन नाम पट्टों का नमन करना होगा। जीर्णोद्धार के नाम पर हो रहे पाखण्ड देखकर कवि बेहद निराश हो उठते हैं-

"यह कैसा जीर्णोद्धार प्रभु
इससे तो अच्छा था वही अपना जीर्ण मन्दिर
जब केवल तुम थे और तुम्हारा सेवक।"[47]

धर्म के दलालों ने ईश्वर और भक्त के बीच धन की दीवार खडी कर दी हैं। भक्ति भी धन प्रदर्शन का विकृत खेल बन चुकी है। धर्म व्यवहार का नया अर्थ निकला है। आम जनता की धार्मिक आस्था को अब एक धंधे में पूनः रूपायित किया गया है। बडे-बडे मन्दिरों का निर्माण, उनके प्रचार-प्रसार द्वारा निर्मित महिमा और इस महिमा-निर्माण के साथ-साथ बढ़ते जा रहे अनाप-शनाप चढ़ावे के बल पर धर्म

आधुनिकता का सुनियोजित व्यवसाय में परिणत हो चुका है। दुःख की बात यह भी है कि कई धार्मिक संस्थाएँ इनकम टैक्स में छूट लेकर काले धन को सफेद करने के व्यवसाय भी चलाती हैं। धार्मिक चैनलों की संख्या में भी उत्तरोत्तर बढ़ावा हो रहा है और आध्यात्मिकता के धारावाहिकों को प्रसारित किये जा रहे है। धार्मिक कार्यक्रमों की विविधता भी आश्चर्यजनक है।

पूँजी के चंगुल में आ फँसने के दुर्भाग्य से धर्म भी बचा नहीं सका है। मन्दिरों, पूजा-स्थलों के नाम पर पूँजी निवेश के नये-नये रूप उभरकर आये हैं। धर्म के अनवरत प्रचार हेतु चैनलों की स्थापना में राजनीतिक दलों की भी मदद मिलती ही रहती है। सांस्कृतिक बिखराव और विभाजन तंत्र के सशक्त हथियार के रूप में धर्म का इस्तेमाल हो रहा है। भगवत रावत की कविता 'कलियुग में जब' इस धोखेबाजी की ओर इशारा करती है-

"जब कट्टर और कठोर
अचानक दिखने लगे सहृदय उदार
मनुष्यता और मानवता के पक्ष में करने लगे
कुछ ज़्यादा ही तत्सम भाषा का व्यवहार
तो समझ लेना चाहिए
कोई न कोई नया हथियार बनाया जा रहा है।"[48]

धन, धर्म और राजनीति में एक अनैतिक गठबंधन आ चुका है, जिसके बल पर सत्ता अपना अधिकार कायम रखती है। धार्मिक गुटों के बीच तनाव पैदा करके, धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करके, सांप्रदायिक दंगे फैलाते जाते हैं जिनके भी पीछे नवपूँजीवाद की ही साजिश है। धर्म के नाम पर सत्ता का खेल चल रहा है, उसके

पीछे धार्मिक आस्था की असलियत कभी भी नहीं है। धर्म और धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल करके अन्याय के राज को प्रतिष्ठित कर रहा है। कवि आगे कहते हैं-

"धर्म से ज़्यादा फहराने लगें
धर्म की ध्वजाएँ तो समझना यह चाहिए कि अब
सचमुच धर्म रसातल में जा रहे हैं।"[49]

धर्म और इतिहास की तरफ लौटकर अपनी संस्कृति की रक्षा करने के लिए जनता को उकसाकर धर्म के पाखण्डी नेता उसकी वास्तविकता से एक छद्म आधुनिकता में पहूँचाते हैं। आर्थिक उदारीकरण और व्यापक स्तर पर धर्म का व्यावसायीकरण एक ही रथ के पहिए हैं। धार्मिक संस्थाएँ आज धन के क्रय-विक्रय के केन्द्र है, सरकार की आमदनी का एक अच्छा प्रतिशत इन्हीं से होकर आता है। धार्मिक आस्था का भरपूर दोहन और शोषण करके धर्म के नाम पर हिंसा का ख़ूब प्रचार-प्रसार किया जाता है। धर्म का भी भूमण्डलीकरण होता है।

धर्म के नाम पर ईश्वरत्व का प्रचार-प्रसार बख़ूबी चलता है। अतः कवि भगवत रावत ने कह दिया कि एक ही साल में चारों ओर धर्म इतना बढ़ा कि अपने ही घर में वे अधर्मी हो गए। आधुनिक धार्मिक भावनाएँ बाज़ार में सब कहीं फैली हैं। विनोदकुमार शुक्ल की कविता है-

"ईश्वर अब अधिक है
सर्वत्र अधिक है
निराकर साकार अधिक
हरेक आदमी के पास बहुत अधिक है
बहुत बँटने के बाद बहुत अधिक है।"[50]

यह बात वाकई तकलीफदेह है कि धर्म एक अमानवीय व्यवस्था का नाम बन चुका है। समकालीन कवि को इस व्यवस्था का फलना-फूलना कभी भी नहीं भाता। इसके विरुद्ध संघर्ष उनके वजूद का अभिन्न हिस्सा इसलिए बन जाता है कि वे सत्ता-संस्कृति के नहीं जन संस्कृति के पोषक रहे हैं।

धर्म के नाम पर निरंतर चोटिल होती संवेदनशीलता को समकालीन कवि बेबाक दृष्टि से अभिव्यक्त करते रहे। धर्म के बाज़ार में भीड चढ़ती जा रही है। धार्मिक उत्पादों के उपभोक्ता वर्ग अपनी उपस्थिति दर्ज करवाते हुए धर्म के नए व्यवसाय को फलने-फूलने देता है। विनय विश्वास की कविता 'पश्चात्ताप' ऐसे एक लाभेच्छुक धर्मपरायण को चित्रित करती है-

"मन्दिर के लिए
वो जगह बडे मौके की निकली
ऊँचा होता जा रहा है मन्दिर में
चढ़ावे का ढेर
बढ़ती जा रही है श्रद्धालुओं की भीड
बढ़ रही है विशाल काया में जगह-जगह
मन की मसोस
ये वो ग्राहक हैं जो उसके न हुए।"[51]

दिन-ब-दिन चढ़ावा बढ़ते मन्दिर के लिए पिता द्वारा दान में दी गई ज़मीन पर मौकापरस्ती लाला उदास हो जाते हैं। वे पश्चात्ताप कर रहे हैं कि मन्दिर के ट्रस्ट में क्यों नहीं अपने आदमी को पहले ही नहीं रखवाया था, जो वहाँ की आमदनी के एक हिस्से का अधिकारी अवश्य हो सकता था। नए नए रूपों में अवतरित होते

धार्मिक पाखण्डियों के इशारे पर देश चलने लगा तो संस्कृति और धर्म का मानवीयता पर आधृत संबंध टूटने लगा, मन्दिर हो या मस्जिद अपनी पवित्रता खोकर, आदमी को बाँटने के षड्यंत्र को लेकर चल रहा है। धर्म और धन की संयुक्त साजिश देखकर कवि यह पूछने को बाध्य बन जाते हैं-

"आखिर यह किनके हाथों सौंप दिया ईश्वर
तुमने इतना बडा कारोबार?
अपना कारखाना बंद करके
किस घोसले में जा छिपे हो भगवान?"[52]

बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा प्रायोजित धार्मिक कार्यक्रमों के प्रचार-प्रसार करने में चैनलें भी दक्ष हो गई हैं। उनको देखकर हम अपनी धार्मिक ज़रूरतों को पूरा करते हैं। समय की अनुपलब्धता के बीचों बीच धार्मिक क्रियाओं के पैकेज का विपणन आधुनिक बाज़ार का सबसे मुनाफेदार व्यवसाय बन चुका है। धार्मिक परंपरा के नाम पर संकीर्णता ही फैलायी जाती है, जिसमें आदमी पूरी तरह खो जाता है। धर्म के इस असरदार शोषण को भगवत रावत यों पंक्तिबद्ध करते हैं-

"वे अवसर पाते ही हमारी-आपकी सुख की नींद में
घोडों पर सवार होकर आते हैं और हमसे हमारी
पहचान और पुरखों का पता पूछते हैं
फिर हमें नींद से बेदखल कर इतिहास की
अंधी गुफाओं में ऐसी जगह ले जाकर छोड देते हैं
जहाँ से वापस आ जाना आसान नहीं होता।"[53]

'अ'धर्म' के चंगुल में निरीह मानव को यों फँसाया जाता है कि बाहर आना असंभव हो जाता है। धर्म के ठेकेदार कहलानेवाले पाखण्डी मठाधीशों पर कवि खगेन्द्र ठाकुर का व्यंग्य है-

"अब तो पीपल की ओर से
वे ही देते हैं आशीर्वाद
पता नहीं ईश्वर तक है या नहीं
लेकिन सरकार तक पहूँच गई है ज़रूर
दूर-दूर तक के लोग
पंडितजी को पूजने लगे हैं
पीपल बडा प्रतापी निकला सचमुच।"[54]

इसप्रकार समकालीन कवि धर्म को बाज़ार से मुक्त करके उसे संस्कृति से पुनः जोडने की कोशिशों में लगे हुए हैं।

4.6 पश्चिमी संस्कृति का आकर्षण

वैश्विक स्तर पर आर्थिक उदारीकरण और एकीकरण के फलस्वरूप उपजे विश्व बाज़ार ने पूँजी के साथ-साथ संस्कृति, जीवनशैली, मूल्य और आचार-विचार के मुक्त प्रवाह के लिए भी राष्ट्रीय सीमाएँ खोल दी हैं। विश्वव्यापार के नियंता अमरीका अपनी जीवन शैली के आदर्शों को बाकी देशों में बहाकर एक नवउपनिवेश का जाल बिछाता है। दुनिया की सांस्कृतिक विविधता के प्रति बढ़ती असंवेदनशीलता पाश्चात्य जीवन शैली को उच्चस्तरीय दिखाकर उसके पीछे पड जाने के लिए पूरी दुनिया को प्रेरित कर रही है। विनोद बिहारी लाल संस्कृति की अवांछनीय संक्रमणशीलता पर

यों टिप्पणी देते हैं- "इसका सबूत गरीब देशों में सेक्स और हिंसा के प्रति बढ़ती सहनशीलता है, दूसरा बाज़ार की प्रेरणा से उत्सव की तरह प्रचारित नए-नए दिवस हैं, जैसे, वैलेंटाइन डे, फादर्स डे, जो सहज ही जनमानस को अपनी गिरफ्त में ले लेते है।"[55]

जनता के मन में ऐसी धारणा फैलायी जाती है कि जीवन आम तरीके से जीने में नहीं, उसको अपनी चरम सीमा तक मनाने में ही मस्ती है। बाज़ार की वस्तुओं द्वारा प्रायोजित त्योहार बन गया है हमारा जीवन। अंतर्राष्ट्रीयता का गहरा होता प्रभाव राष्ट्रीयता को विनष्ट करने की ओर आतुर है। राष्ट्रीयता की विकासशील अवधारणा को क्षत-विक्षत करके सबसे तिरस्कृत दृष्टि से देख्ने की अंग्रेज़ी परंपरा का एक दूसरा सशक्त 'एडिशन' आज चल रहा है। देशों की आत्मपहचान को दिग्भ्रमित करके लोक संस्कृतियाँ निम्न स्तर की घोषित की जाती हैं।

एक ओर तो सभ्यताओं और संस्कृतियों के निर्बाध सम्मिलन तथा पारस्परिक आदान प्रदान से विश्वव्यापी संस्कृति का उदय हो रहा है, मानवीय सृजनशीलता फल-फूल रही है तथा जीवन और समृद्ध हुआ है। दूसरी ओर इस उदीयमान संस्कृति की प्रेरणा के मूल में केवल फैलता हुआ बाज़ार है, जिसकी परिणति नितांत असुन्दर और अशिव ही होता है। यह रास्ता केवल एक ओर जाता है-मुट्टीभर मल्टीनैशनल कंपनियाँ दुनिया की नियंता बन बैठें। आर्थिक समृद्धि और संपन्नता के पीछे अपनी विरासत को भूलकर तेज़ी से अनुगमन करनेवाली एक पीढ़ी पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के अंधानुकर्ता बन चुकी है। अपनी सृदनशीलता और विचारशीलता को बाज़ार की माँगों के अनुरूप कर डालना उसकी मज़बूरी ही नहीं, आदत भी हो गई है। वैश्विक संस्कृति के नाम पर जिस अमूर्त संकल्पना की पूजा हो रही है, वह

असल में अमरीकी संस्कृति ही है, जिसमें देशी संस्कृति घुल-मिल नहीं, क्षत-विक्षत ही हो जाती है।

समकालीन कवि देशी संस्कृति पर पडे इस गहरे संकट को पहचानकर राष्ट्रीयता के बल पर इसे पार करने की सख्त सिफारिश करते हैं। सभ्यता के मानकीकरण को कवि कुमार अंबुज सांस्कृतिक अतिक्रमण मानते हैं-

"पेडों पर, जानवरों पर, इमारतों पर
मनुष्यों और विचारों पर फैलता हुआ
यह कोई धुआँ है जो सब कुछ को
अजीब तरह से एक जैसा कर रहा है।"[56]

सभ्यताओं के प्रवाह में जीवन के ऊबड-खाबड समतल होता जा रहा है। इसमें अचंभित निष्क्रिय और अपराधी के रूप में रहना पडता है देशी संस्कृति को। पश्चिमी उपभोक्तावाद का फैलाव आदमी को भुक्खड और बर्बर बना देता है। अपनी स्वतंत्र आकांक्षाओं और ज़रूरतों से विचलित होकर बाज़ार निर्देशित एक विशिष्ट संस्कृति की ओर बढ़ रहे मानव, एक ऐसे देश के नागरिक बनना चाहते हैं, जो विश्व बाज़ार में अपने को एक सफल हिस्सा सिद्ध कर सकें।

विकास के नाम पर देशी संस्कृति में हुई पतनशीलता पर अष्टभुजा शुक्ल की प्रतिक्रिया है 'भारत घोडे पर सवार है' कविता। देश के विकास चिह्न बन गए हैं, पेप्सी कोला, कंडोम, रमुरिया चाकू और हरिओम। कवि आक्रोश करते हैं कि बडे ही उत्साहों से घोषित विश्वग्राम की समता में भाग लेने के उद्देश्य तक पहूँचने के लिए हमने सीमाएँ तोडी है। आज दुनिया पर एकाधिकार है बाज़ार का, पश्चिमी सभ्यता का। आज भारत घोडे पर सवार है, इनक्रेडिबिल है।

अमरीका का वर्चस्व न केवल विश्व बाज़ार और राजनीति की दशा-दिशा निर्देशित करता है अपितु सामान्य जन का खाना-पीना, उठना-बैठना भी नियंत्रित करता है। पाश्चात्य संस्कृति की कृत्रिमता को पहचानकर भी कभी कभी मानव उससे मुक्त नहीं हो पाता। पूँजीवाद का नव बिस्तारवादी रूप कविमन को आन्दोलित करता है-

"और जब कभी मुझे लगता है कि अमेरिका बर्बर है
तब मैं अपने से पूछता हूँ कि आख़िर मैं अमरीकी क्यों हूँ
और कुछ देर बाद यह सोचकर मुस्करा पडता हूँ कि
मेरे पास इसका विकल्प भी क्या है?
उसके आगे हारती मानवीयता।"[57]

मानव को एक ऐसी विकल्पहीन अमानवीय बाज़ार में अकेला छोडकर उसे समझाया जाता है कि संस्कृति बाज़ार की एक चीज़ है, जहाँ मानव की सृजनात्मकता का, चिन्तनशक्ति का, क्षमता का स्थान अनिश्चितता में पड गया है। इस वैचारिक गुलामी के कारण को व्यक्त करने की कोशिश में शंभूनाथ कह देते हैं- "भारत के लोगों के मान में लगभग दो सौ सालों तक यह बात बैठाई गई है कि पश्चिमवासी उनके आधुनिकीकरण के मिशन पर है। वे मुक्तिदाता है। भारत के लोगों को आधुनिकता, सभ्यता और संस्कृति की ज़रूरत है, यह ज़रूरत पश्चिम ही पूरी कर सकता है।"[58]

देश की संस्कृति में इस प्रकार परनिर्भरता भर देती है और आत्मनिर्भरता पर आधृत प्रगति पर रोक लगाया जाता है। देशी संस्कृति को अपनी पूर्णता की खोज में

विश्वबाज़ार के पीछे भटकते रखना पश्चिमी वर्चस्व का एकमात्र लक्ष्य है। 'भारत 2047' में यतीन्द्र मिश्र देश की हालात पर व्यंग्य करते हैं-

"दुनिया की सबसे उन्नत सभ्यताओं में शुमार हैं हम
बाज़ार में बिकने के लिए सबसे बेहतर उत्पाद है हम
यहाँ पहूँचकर हमने जाना है जितना भी अर्जित है
उसमें अमन और चैन की बात करना वर्जित है।"[59]

बाज़ार में हो रहे अश्वमेध यज्ञ में अपने सारे पारंपरिक ढाँचों को तोडकर, संस्कृति की विशिष्टताओं को भूलकर, शामिल होने की दौड में, शेष रह जाता है, प्रतिस्पर्धा युक्त प्रतियोगिता में आगे बढ़ने की बेचैनी। दुनिया में बाज़ार का सच जीतेगा। देश-देश की सांस्कृतिक सीमा मिटा देकर सब कहीं बाज़ार की स्थापना होगी। दिनेश कुमार शुक्ल की कविता 'आगमन' संस्कृति पर नवउपनिवेशवाद का तरीका व्यक्त करती है-

"देशों की सीमाओं का उनकी सेनाएँ
खुले आम इस बार अतिक्रमण नहीं करेंगी
वे तो सिर्फ इरेज़र से ही
मिटा रहे हैं देश-देश की सीमा-रेखा।"[60]

एकीकृत विश्वग्राम के मत्स्य न्याय में एक साथ सारी संस्कृतियाँ जल जाएगी और उस अग्नि से एक वैश्विक संस्कृति जन्म लेगी जिसमें पण्य की सार्वभौम सत्ता का सिक्का चलेगा।

विश्व-बाज़ार में पनपनेवाली नव-संस्कृति के अनुयायी अपनी निजी संस्कृति

को हेय दृष्टि से देखते हैं। वे निम्नस्तरीय संस्कृति के अनुकर्ता बनकर रहना नहीं चाहते। विश्व बाज़ार में भाग लेने के लिए पहले ही तैयार हो जाते हैं-

भगवत रावत कहते हैं-

"उन्हें तुतलाने की फुरसत कहाँ
वे पैदा होते ही जान जाते हैं
एक दिन उन्हें धरती का अन्न-जल छोडकर
कहीं और उड जाना है
उन्हें अपना जीवन अलग ही बिताना है
वे जानते है उन्हें
धूल, मिट्ठी, गन्दगी से ऊपर उठना है।"[61]

ग्लोबल होने की बेतहाशा होड में ज़मीन से टिके रहना और लोकल बने रहना कठिन होता जा रहा है। संस्कृति के तथाकथित आधुनिकीकरण के अंधानुकरण के कारण आज का मनुष्य अपनी जडों से कटकर निजत्व और अस्मिता की तलाश में भटक रहा है। लोक संस्कृति पश्चिमी सभ्यता के अंधे मोह के कारण क्षरित होती जा रही है। कवि विश्वसंस्कृति के इस सर्वग्रासी प्रभाव से अलग रहना चाहते है। 'नवसुख्री' नामक कविता में कैलाश वाजपेयी इस असभ्य सभ्यता को सूचित करते हुए बताते हैं कि सुख्री ख्रान दान के दुख्री लोग कपडा मिल से निकलकर नंगमनंग होने परदेश के किसी होटल में चले जाते है। उत्तराधुनिक नाम से पुकारे भी जाते हैं।

अमरीका आधुनिक जीवन का मापदण्ड बन गयी है। बाज़ार में अमरीका के उत्पादन-विपणन तंत्रों का निर्यात, छोटे-छोटे उपभोक्ता देशों की रुचि को लक्ष्य करता

है। भूमण्डल के बाज़ारीकरण के दो पक्ष हैं- एक तो प्रान्तीय सभ्यता का भूमण्डलीकरण है, दूसरा भूमण्डलीकरण की प्रान्तीय स्वीकृति है। इसी स्वीकृति में अमरीका की सफलता भी छिपी हुई है।

मनोरंजन के नाम पर मीडिया द्वारा प्रसारित विलासिताएँ जीवन की अनवार्यताएँ बनकर एक विकृत आयातित सभ्यता में दुनिया भर को बाँध देती है।

बाज़ार द्वारा बुनाई गई भोग पर पूर्ण रूप से आधृत वैश्विक संस्कृति यानी अमरीकी संस्कृति को लेकर समकालीन कवि पूरी तरह से अतृप्त हैं। एक तरफ से आर्थिक दबाव के शिकार बनाकर दूसरी तरफ से उन्मुक्त भोगाकांक्षी समाज की रचना की जाती है। विवेकशून्यता से दिमाग भरा देता है और प्रतिस्पर्धा से मन। कवि भगवत रावत क्षरित संस्कृति को शब्दों से अधोरेखित करते हैं-

"कंधों पर तरह तरह के थैले लटकाए घूमते हैं
मातृभाषाओं से बेहतर
अंग्रेज़ी बोलते हैं
उनके चेहरे देखने लायक होते हैं जब वे
संसार की गंभीर समस्याओं पर
अंग्रेज़ी में करते हैं विचार।"[62]

सारी दुनिया से असंतुष्ट होकर संस्कृति के पश्चिमीकरण के विरुद्ध बहस चलानेवाले ढोंगी बुद्धिजीवी वर्ग को कविता ऊँची आवाज़ में संबोधित करती है। 'सरल जीवन उच्च विचार' के प्रवक्ता रहकर भी मातृभाषा के संकट के विषय पर अंग्रेज़ी में चर्चा-परिचर्चा चलाने को तनिक भी हिचकते नहीं है तथाकथित नव

बुद्धिजीवी वर्ग। चाहे कठिन जीवन जीने की कोशिश को शाम में शराब पीकर रिलैक्स करते हो उनका विचार देश के उद्धार का ही रहता है, यही देश की नियति है।

वैश्वीकरण के दलाल बनकर अमरीका बता रही है कि राष्ट्रीयता की अवधारणा संकुचित है। अन्तर्राष्ट्रीयता के बढ़ते प्रभाव में अपने देश की संस्कृति पर टिके रहना उचित नहीं है। समकालीन कवि देश की मिट्टी में गहरे रूप से धँस गई पाश्चात्य संस्कृति की जडों पर पूर्ण रूप से विश्वास नहीं करते। लोक संस्कृति की वन सुगंध को धूसरित करके पत्थर के पेड के समान बस गई संस्कृति को निलय उपाध्याय 'पत्थर का पेड' पुकारते हैं। इस देश की मिट्टी में गहरे धंसकर उनकी जडें, शाखें, और फल सब कुछ पत्थर से बने हुए हैं। उन्हें तोड देना असंभव रह गया है।

साम्राज्यवादी ताकतों की मेशा है कि छोटे देशों में आत्महीनता की भावना भरकर अन्य सांस्कृतिक विकासों को आर्थिक विकास के सामने तुच्छ मानने की आदत बढ़ा दे। समकालीन कविता में इस यथार्थ की बेहद चौकन्नी पडताल की गई है। आधुनिकीकरण बाज़ारीकरण की दुधारी तलवार है। देशवासियों के मन में अपनी परंपरा और पुरानी संस्कृति के प्रति अनास्था की भावना पैदा करके अपनी आधारभूत सभ्यता से काट देने का काम एक ओर चल रहा है तो दूसरी ओर आधुनिक बन जाने की अदम्य इच्छा को लेकर स्वदेशी उत्पादों का हेय दृष्टि से इनकार करके विदेशी-परिष्कृत उत्पादों के उपभोक्ता बन जाने में ललक दिखानेवाले एक देश का सृजन भी कर रहा है। आज का युवक पश्चिमी देशों के लिए बडा परचेसिंग और मैन पॉवर है जो भारत से निर्यात होने के लिए लालायित है।

धर्मबोध और राष्ट्रबोध सहित मनुष्य की समूची अवधारणाओं को, जो संस्कृति के महत्वपूर्ण आयाम हैं, भोगवाद में शामिल कर देना उत्तर साम्राज्यवाद का अंतिम लक्ष्य है। विवेकविहीन युवा पीढ़ी समझते नहीं कि संस्कृति का भूमण्डलीकरण कैसे हो रहा है। पिज्जा, वर्गर, हॉट डॉग के स्वाद की दीवानी, पब में शाम गुज़रने और डिस्को में थिरकनेवाली महानगरों की जो युवा पीढ़ी है, उसे सचमुच नहीं पता है कि इस भूमण्डलीकरण ने देश की विशाल आबादी के साथ क्या किया है। देश भर में फैलायी गई संस्कृति को कुलजीत सिंह की कविता इस प्रकार उधेडती है-

"भूख और कर्ज से त्रस्त जनों को आत्महत्या की
आदमी को कुत्तों की तरह दौडने-दौडाए जाने की
औरत को अपनी देह और बच्चे बेचने की
खा-पीकर अघाए अश्लील बलशालियों को
हत्या और पर पीडन की
महँगे कपडे खरीदने के लिए
तन के कपडे उतारने की प्रतिद्वन्द्विता की।"[63]

आयातित सभ्यता को अपनाने के लिए लडनेवाली एक पीढ़ी की रचना देश की अस्मिता के लिए हानिकारक है। देशज चिन्तन का अवमूल्यन और जातीय सृजनशीलता का हाशिएकरण भोग और लिप्सावादी संस्कृति के विकास के साथ-साथ चलता है। इतिहास का अंत, विचारधारा का अंत, तार्किकता का अंत और साहित्य का अंत आदि घोषणाएँ हमारी परंपरा से पूरी तरह विच्छिन्न कर देने की स्वार्थी साजिशें है। एक ऐसे देश में ही बाज़ार पनप सकता है। अष्टभुजा शुक्ल की कविता इसी यथार्थ का नतीजा है-

"देश रे देश कितना
परदेश हो गया है तू
स्वप्न में दीख रहा है विश्व-बाज़ार
रहित नात-हित-रिश्तेदार।"[64]

देशी संस्कृति धीरे-धीरे विलुप्त होने की छटपटाहट कवि की उपरोक्त पंक्तियों में स्पष्ट झलकती है। संस्कृति की सारी उदात्त चीज़ों को विनष्ट करके हम निज सभ्यता को विदेशी बाज़ार में चमत्कार उत्पन्न करनेवाली प्रदर्शन की चीज़ बना देते हैं तो कवि चुप्पी नहीं साध सकते। भगवत रावत यह पूछे बिना से नहीं रह सकता कि तुम्हारे बाज़ार में अपनी संस्कृति को बेचने के अलावा हमारे पास क्या बचा है। पश्चिम के लोग जिसे अपने ड्रोइंग रूम में सजाकर रखते हैं। इसी तरह वे हमारी डूबी संस्कृति को बचाए रख सकने का खोखला दावा करते है।

देश के सारे सांस्कृतिक चिह्नों को बाज़ार में निम्न स्तर के बताकर एक हीन भावना से देशी संस्कृति को लज्जित कराने में पश्चिमी ताकतें सफल हुई हैं। सूचना और संचार की अपराजेय दौड में ऐसी विशिष्ट पहचानें अपनी रफ्तार को तेज़ नहीं बना सकती हैं।

पश्चिमी बाज़ार अनुकरण और निर्भरता का पाठ पठाते-पठाते मानसिक गुलामी की एक दीर्घकालीन परंपरा को आगे बढ़ाता है। गुलामी के लिए अभ्यस्त एक जनता में गुलामी के प्रति संघर्ष की भावना भी कमज़ोर ही रह जाती है। पश्चिमी सभ्यता से हटना गैर आधुनिक समझनेवाले समूह में सभ्यता की विविधताएँ विलुप्त हो जाएगी। 'नई सभ्यता की मुसीबत' को कुमार अंबुज व्यक्त करते हैं-

"नई सभ्यता ज़्यादा गोपनीयता नहीं बरत रही है
वह आसानी से दिख्रा देती है अपनी जंघाएँ और जबडे
वह रौंदकर आई है कई सभ्यताओं को।"[65]

विश्व भर की एकायामी संस्कृति के केन्द्र बिन्दु के रूप में अमरीका ने अपने को प्रतिष्ठित किया है और विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ इससे प्रवृत्त होती जा रही हैं। उन्हीं द्वारा परिनिष्ठित आदर्शगाँव में संस्कृतियाँ घुल-मिल तो होंगी बल्कि पश्चिमी सभ्यता की छाया बनकर ही। लोकतांत्रिक विचारों को दबा-कुचलकर सुविधाभोगी लोभतंत्र में परिणत करने में अमरीकायुक्त साम्राज्यवादी देश लगे हुए हैं। समकालीन कवि देश-लोक जीवन से गहरे लगाव दिख्राकर इन षड्यंत्रों का प्रतिरोध करना चाहते हैं। चारों ओर एक जैसी पूँजी है और एक जैसी दास प्रथा है। दिशाएँ, ऊब और आकांक्षाओं से भरी हुई एक सी दिख्रती है और ज्ञान की एक जैसी सूचनाओं के बीच संस्कृति दिशाविहीन बन गई है। ऐसी हालत में लीलाधर मंडलोई की कविता अपनी मानवधर्मिता का सहारा लेकर बोलती है-

"मेरा विरोध ही मनुष्यता मेरी
मैं चलता हूँ नंगे पाँव अपनी धरती पर
रहता हूँ अपने लोगों के बीच
बोलता रहता हूँ अपनी गँवई बोली
अब यह तो मठे में हुई गुट्ठल की बात।"[66]

अपनी संस्कृति में ख्रडे रहना आजकल आसान नहीं है। पर अपसंस्कृति के प्रतिरोध में यही एकमात्र विकल्प है। अपनी स्मृतियों को, सपनों को, विवेक को,

पण्यीकरण से बचाये रखने का जोखिम उठाना ही होगा। वैचारिक गुलामी से बाहर निकल आना समय की मांग बन गई है। समकालीन कविता, सुन्दरता के आडंबर में और आडंबर के भद्देपन में परिणत हो जानेवाले सांस्कृतिक असंतुलन पर आक्रामक स्वर उठाती है।

4.7 गाँव का पर्यावरण और शहरीकरण

'विश्वगाँव' के सुनहरे शब्द में अपनों को समेट लेने की अदम्य लालसा का वहन करते हुए हमारे गाँव अपनी सारी पहचानों को 'ग्लोबल' बना देने में कार्यरत हैं। गाँवों की स्मृतियों पर आधारित एक संस्कृति लगभग समाप्त हो चुकी है। व्यापार के उपनिवेशों से पूरे गाँव परिचित हो चुके हैं और एक विलुप्त होती संस्कृति के अंतिम स्मृतिचिह्न भी मिटाये जा रहे हैं। समकालीन कवि शहरीकरण की अत्तराधुनिक व्यावसायिक क्रिया में गाँवों की अहमियत के विनष्ट होने को लेकर चिन्तित हैं और मिट्टी की गंध सुरक्षित रखने के घोर पक्षधर भी।

यह तो सच है कि 'वैश्विक गाँव' की संकल्पना एक विशाल अवधारणा को सूचित करती है, पर वहाँ 'गाँव' शब्द का अर्थविपर्यय हो गया है। रामदरश मिश्र की कविता 'विश्वग्राम' में इस शब्द को लेकर आम आदमी की 'नोस्टाल्जिया' के शोषण करने की, उन्हें दिग्भ्रमित करने की आशंका व्यक्त की गई है। गाँव अपने विलुप्त पुराने अर्थ में अभावों के दंश झेलकर भी आपस में जुडे हुए आदमियों का सामूहिक नाम था। गाँव का पूरा परिवेश एक समष्टि रंग से रचा हुआ था, रिश्तों की आत्मीयता गाँव के जीवन को जीवंत बना देती थी। इन्हीं पुरानी स्मृतियों के बल पर केवल आर्थिक आधार पर लेन-देन की सुविधा हेतु गठित 'विश्वगाँव' को समझने की कोशिश कवि को निराशा में डुबा देती है-

"धीरे-धीरे भेद खुलता गया कि
विश्वग्राम का मोहक महल
ग्राम संवेदना पर नहीं, बाज़ारवाद पर खडा है।"[67]

बाज़ार ने गाँवो के रास्तों को शहर की ओर खुला दिया और अपनी मिट्टी की गंध, नदी की गति और हवा की शुचिता को बाज़ार को सौंपा दिया।

कवि महसूस कर रहे हैं कि 'विश्वगाँव' नाम के आधुनिक गाँव में दुनिया के संपूर्ण गाँवों की अपनी-अपनी ज़मीन की अनोखी महक नहीं मिल सकती। विभिन्न गाँवों के अपने अपने विशिष्ट रंग भी गायब हुए हैं। गाँवों में सहजता से पायी जानेवाली, आदमी की अपनी जडों से स्पन्दित लगाव नष्ट हो चुकी है। विश्व बाज़ार रूपी गाँव में आदमी-आदमी का रिश्ता नहीं, क्रेता-विक्रेता का व्यापारिक रिश्ता रहता है। तभी यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि संवेदनाएँ सामानों में बदल रही हैं। विकास की परियोजनाओं के कार्यान्वयन के रूप में गाँव की चिन्ता को बाज़ारानुकूल बना देना और शहरी संस्कृति के प्रति अदम्य लगाव जगा देना उत्तर उपनिवेशवाद को विस्तृत बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। विश्वगाँव के अर्थ को गाँवों की एकजुटता समझनेवालों को बेवकूफ बनाकर वैश्विक बाज़ार पनप गया। 'मार्च की एक शाम में आई. आई. टी कानपुर' नामक कविता में वीरेन डंगवाल इसे स्पष्ट करते हैं-

"दुनिया एक गाँव तो बने
लेकिन सारे गाँव बाहर रहें उस दुनिया के
यह कंप्यूटर करामत हो।"[68]

गाँवों की इस नियति को कवि उन अभागे पुलों के समान पेश करते हैं जो सिर्फ गलियारे होकर खडे होते हैं, जिनके नीचे से कोई नदी गुज़रती नहीं है। 'गाँव' शब्द संबंधों की ऊष्मा से, घर की छाया से और पर्यावरण की स्वच्छता से जुडा हुआ है, महानगरीय बोध का भूत चढ़कर इन सबको जडों से काट दिया है।

समकालीन कवि गाँव की दुनिया के खास स्वाद के विनष्ट हो जाने की बेचैनी में उसे अपनी यादों और सपनों में समेट लेने की कोशिश करते हैं।

'कोई क्यों नहीं आता यहाँ' कविता में लीलाधर मंडलोई महानगरीय जीवन की त्रासदी को पंक्तिबद्ध करते हैं। कवि व्याकुल हो उठते हैं कि लेटर बॉक्स में पडी हुई सूचनाओं में रिश्तेदारों की चिट्ठी नहीं होती, कभी कारों के खरीद-फरोख्त की सूचना या 'फूड फेस्टिवेल' का पर्चा होता है। बाल्कनी में न चिडिया, धूप, बिल्ली या कोई नातेदार आते हैं केवल 'सेल्समान' आता है। कवि कहते हैं-

"इस शहर में जब भी खोलता हूँ दरवाज़ा
वह सीधे खुलता है बाज़ार में
देखता हूँ मैं शहर एक आधुनिक अखबार की तरह
फैलता जा रहा है जीवन पर
संपादकीय की जगह
हँस रहा है एक बडा-सा विज्ञापन।"[69]

अपनी विस्थापित संस्कृति को लेकर बाज़ार की तलाश में शहर आए गाँव को और दूसरी ओर संस्कृतियों को खोजकर गाँव-गाँव पहूँचे बाज़ार को, दोनों असीमिताओं को कवि ठीक-ठीक पहचानते हैं। दोनों ही दिशाओं से गाँवों की सभ्यता

पर बाज़ार का अतिक्रमण ही है। शहरी जीवन सदा बाज़ार की विविध रंगीयता की ओर खुलता रहता है, उसकी व्याप्ति आधुनिक अख़बार में संपादकीय पृष्ठ को भी विज्ञापित करनेवाली व्यावसायिक दृष्टि में निहित है।

विकास के नाम पर, सुधार के नाम पर गाँवों और लोक संस्कृति का विध्वंस बाज़ारीकरण से शुरू होता है। कारख़ानों से भरे हुए गाँवों में ज़मीन का अधिग्रहण अपनी चरम सीमा पर है। इसका आर्थिक पक्ष अलग है, साथ ही साथ यह विस्थापन की संस्कृति का सूचक भी है। पूँजी के हितों के अनुसार शहरीकरण का समर्थन गाँवों को बाज़ार के अनुकूल रूपांतरित करता है।

गाँवों की आत्मनिर्भरता पर सवाल उठाकर उनकी अपनी चीज़ों के लिए ज़्यादा टिकाऊ कृत्रिम विकल्पों से उन्हें मोहित करके, धोख़ा दिया जाता है। अंत में बेसहार भटकनेवाले गाँववालों को बाज़ार की रास्ते की ओर ले आना सुगम हो जाता है। विकास के छद्म आवरण को कवि फाड देना चाहते हैं।

यह सडक शहर की ओर ही नहीं ख़रीद-बिक्री की एक विशाल दुनिया की ओर गाँव को ले जाती है। गाँव के स्पन्दनों को रोडरोलर की भाँति कुचल-रौंदकर विश्व गाँव का सुनहरा सपना दिख्राते हैं। विकास के नाम पर जिस तरह के समझौते किये जा रहे है और इसके लिए विघटनकारी शक्तियों को पोसा जा रहा है, आदमी की सभ्यता और संस्कृति के लिए इससे बढ़कर दूसरा संकट शायद कुछ नहीं हो सकता। गाँव के चरित्र की विडंबना को एकांत श्रीवास्तव यों व्यक्त करते हैं-

"गाँव के किसान
शहर की मिलों और फैक्टरियों में मज़दूर हुए

गाँव की बहु बेटियाँ

शहर जाकर चौका बर्तन करनेवाली

नौकरानियाँ हुई

गाँव के नौजवान पढ़-लिखकर

न किसान बन सके न कर्मचारी।"[70]

गाँवों के बाज़ारीकरण के विरुद्ध कवि की प्रतिक्रिया और प्रतिरोध जीवन और लोक से उनके लगाव पर आधृत होकर और भी मज़बूत हो जाते है। गाँव की मिट्टी गंध को, पानी के स्रोतों को मुनाफाख़ोर बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अपरिमित दोहन गाँव के जीवन को बेसहारा और बेज़मीन बना देता है। वर्तमान विकास के स्वप्न गाँव की ख़ुशियों को भी छीन लेते हैं। आज जीने के लिए गाँवों की बडी तादाद नौकरी की तलाश में शहरों की ओर दौड रही है। शहरों का मोहित वातावरण उन्हें आकर्षित करता है पर गाँव की निष्कपटता बाज़ार के अनुकूल बन जाने में समय लगता है। कवि दिनेश कुमार शुक्ल की कविताओं में शहरीकरण की प्रक्रिया की त्रासदी को बडे ही सहज ढंग से चित्रित किया है। वे बताते हैं कि जड से उख़ाडकर, पुराने ठॉव छोडकर शहरों के घूरे पर आ गिरे है आज के सारे गाँव। शहर पनाह की ख़स्ता दीवारों से, विकास के निरंतर तूफानों में उडते आ-आकर गाँव-बेपनाह बने हुए हैं। समकालीन कवि बाज़ार में ख़ोई हुई मनुष्यता और गाँव की महक को बचाते रख़ना चाहते हैं। गाँव की पूरी तन्मयता को उजाड देकर उनकी आत्मनिर्भरता को छीन लेने के विरुद्ध कवि संघर्ष और आस्था की रास्ता ख़ोल देना चाहते हैं। कवि याद दिलाते हैं कि अब भी पूरे गाँव विश्व गाँव में पूरी तरह उजड नहीं जाते हैं। अपने घर को, गाँव को प्यार करके कुछ लोग यहीं रह जाते हैं और वे कन्हार को

प्यार करते हैं और सपनों का मांगलिक हरापन फिर से उगा देना चाहता है। 'मैं गाँव आऊँगा', 'इंतज़ार' आदि कविताओं में निलय उपाध्याय ने लहर मारते गाँव के दुःख को पहचानकार शहर के बाज़ार के नशे के बाहर आकर अपनी लघु-संस्कृति की पुकारों से दिल भर देने का आह्वान करते हैं।

निर्मला पुतुल भी यह आशंका व्यक्त कर रही है कि बाज़ार की ओर बढ़ती भाग-दौड में गाँव अपनी पहचानों को छोड देने में हिचकते नहीं है। गाँव के पुराने बडे-बडे पेड उखड गए हैं। बाज़ार की तरफ भागते यहाँ के सबकुछ गड्ड-मड्ड हो गया है। गाँव की सारी पहचानें कंक्रीट के पसरते जंगल में खो गई हैं।

नाभि में कस्तूरी की तरह साथ लिए चलते, गाँव की गंध को, घर और प्यार को, कवि छोडना नहीं चाहते। आजकल गाँव की नदी को साफ करने और पानी के संरक्षण की योजनाएँ विश्व गाँव की हैं। अपनी मिट्टी में जीने के लिए तरह तरह के टैक्सों को चुकाना पड रहा है। कवि की आशंका है आज पुल से होकर नदी पार करने का टोल टैक्स देना पड रहा है आगे घाट पर पाँव धरने का घाट टैक्स, स्वच्छ पानी पीने का नॉमिनल खर्च भी लेना पडेगा। 'कैसा पानी कैसी हवा' में कवि चन्द्रकान्त देवताले साफ कह रहे हैं कि गाँव में बडे होकर, खेत-मैदान के सगा होकर जीनेवाला, अब विश्वरंग में बदल रही दुनिया में कारखानों में फँसी आवाज़ों के बिस्तर पर नहीं मरेगा। आगामी पीढ़ी के लिए गाँव कैसा पानी और कैसी हवा धरोहर के रूप में दे सकता है, यह कवि की चिन्ता का विषय है।

कवि का प्रतिरोध अपनी ज़मीन पर अधिष्ठित है। गाँवों के शहर बनने की प्रक्रिया के बीचों बीच अपनी आवाज़ को बचाते रखने की, गाँववालों की गुमनामी को राग देने की, गाँव के पर्यावरण की स्वच्छता और ऊर्जा से शक्ति पाने की, गाँवों

में मुखरित जीवन परिदृश्यों की असलियत को उभारने की, धनतांत्रिक समाज में पूरी शिद्दत से मिट्टी की संस्कृति को प्रतिष्ठित करने की चाह समकालीन कवियों की वाणी में हैं। अतः कवि कहते हैं-

"इस कोलाहल के बीच
उसके प्रतिरोध में
खडी है एक दर्द-भरी कलम
अपनी ज़मीन का राग सुनाती हुई।"[71]

4.8 राजनीति का बाज़ार-भाव

प्रौद्योगिकी पर आधारित, राष्ट्र-राज्य की सत्ता को नगण्य माननेवाले नव उदारतावादी पूँजीवाद के विस्तार के युग में राजनीति देश की हैसियत गिरने की चिंता नहीं करती। साम्राज्यवादी चिन्तन पद्धति में सत्तासीन होकर शासक वर्ग लोकतंत्र को लोभतंत्र में तब्दील कर देते हैं। विश्व व्यापार संगठन, अतंर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्वबैंक की आर्थिक नीतियों के अनुशासन करने में वर्तमान राजनीति अपनी सार्थकता समझती है। सच्चिदानन्द सिन्हा का कहना है- "हीन भावना से ग्रस्त हमारे देश के शासक ही हैं जो हर बात में अमेरीकी दबाव के आगे झुककर देश की अर्थव्यवस्था को बचाने के बदले अमेरीकी नीतियों का बिना सोचे-समझे समर्थन करते रहते हैं और अपनी कृषि या छोटे उद्योगों को आवश्यक संरक्षण देने से कतराते है।"[72] साम्राज्यवाद को पुनः जडें जमाने में असहमति के सशक्त स्वर उठाना समकालीन राजनीति के वश की बात कतई नहीं है। राजनीति भी आज बाज़ार का खेल बन चुकी है, मुनाफा कमाना और स्वार्थ सिद्ध करना उसका अंतिम लक्ष्य बन

गया है। धर्म और सांप्रदायिकता के नये हथियारों को लेकर राजनीति आज जनता के विपक्ष में खडी रहती है। जनता की माँगों के दबाव से भी तीव्र रूप से वह बाज़ार की माँग और दबाव में उलझ पडती है। राजनीतिक उथल-पुथल से राष्ट्रीयता की रक्षा पर भारी संकट पड गया है और विश्व-बाज़ार के लिए राष्ट्र-राज्य के दरवाज़े खेलनेवाले द्वारपालक तक शासक की भूमिका सीमित हो चुकी है। देश के नागरिक उनके लिए महज मतदाता या वोटबैंक है जिनसे मुलाकात सिर्फ चुनाव के सिलसिले में करनी पडती है। समकालीन कवि राजनीति के भ्रष्ट होते चरित्र के प्रति बेहद असंतुष्ट है और उनकी प्रतिक्रिया वर्तमान समय के अनुरूप तीखेपन से गुज़रती है।

विश्व-व्यवस्था के अनुकूल होने की दौड में शासक वर्ग निजीकरण को प्रोत्साहित करते हैं और पूरे देश को बहुराष्ट्रीय निगमों के आर्थिक कार्यक्रमों का सफल मंच बना देते हैं। अरुण कमल की कविता 'सरकार और भारत के लोग' देश की नियति पर राजनीति की नज़रअन्दाज पर क्षोभ व्यक्त करती है। कविता शिक्षा, स्वास्थ्य सहित तमाम सार्वजनिक क्षेत्रों के निजीकरण के प्रति अत्यंत उदार सरकार की खिल्ली उठाती है। सरकार लगातार उदार होकर हर जगह से अपने हाथ खींच रही है। सरकारी नलों में पानी की जगह हवा देखकर, बिगडे ज़मीन्दार की तरह सारे कल-कारखाने, चम्मच कटोरी बेचने की बढ़ती आदत देखकर सामान्य नगारिक की प्रतिक्रिया को कवि शब्दबद्ध करते हैं-

"तब एक माँ ने कहा-सरकार जी
ऐसा करें कि संसद भी बेच दें
और आप भी वैसे रहें

जैसे हम, यानी भारत के लोग

अब सरकार ही क्या करेगी रहकर?"[73]

देश के आम जन अब पहचानपत्र लेकर चलते-फिरते हैं, पर उनकी पहचान मतदाता वर्ग में सीमित रह गई है। जनता के साथ खडी न हो पानेवाली राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध, साम्राज्यवादी शक्तियों पर सब कुछ न्योच्छावर करने के विरुद्ध कुंद होनेवाली जनचेतना की सूचना उपरोक्त पंक्तियों में द्रष्टव्य है। ग्लोबल गवर्नेन्स के साथ अपनी अस्मिता को घुल-मिल देने में न हिचकनेवाली राजनीति को, उसके बल पर शासन में चिपके रहनेवालों से जनता ने समझौते का रास्ता अपनाना समाप्त कर दिया है।

राष्ट्रवाद के नाम पर हो रहे बहुराष्ट्रीयकरण और उपनिवेशवाद पर कुठाराघात करती है, राजेश जोशी की कविता 'यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है'। बाज़ार के साथ राष्ट्र की राजनीति के अनैतिक संबंधों का खुलासा देते हैं कवि-

"मैं कहता हूँ बहुत हानिकारक है

व्यक्ति के लिए नहीं पूरे देश के लिए हानिकारक है

दिनों दिन बढ़ते जाना अमेरिका का दबाव

राष्ट्रवाद का नया उफान

वित्त- पूँजी का प्रपंच बजरंगियों का, उत्पाद बहुराष्ट्रीय कंपनियों का

लगातार फैलता जाल

एक प्रधानमंत्री का इतनी बुरी कविता लिखना

हानिकारक है।"[74]

टामस मोर के कटे हुए सिर के समान धर्म और राजसत्ता के बीच पुल पर लटकनेवाले आम आदमी को कवि पहचानते हैं और इस गठबंधन के खतरे को लेकर बेचैन हैं। भगवत रावत की कविता 'मानो न मानो' में वर्तमान सभ्यता की मुसीबत को व्यक्त करके बताया गया है कि आज राजनीति स्वार्थियों की निजी संपत्ति हो चुकी है। संस्कृतियाँ नव धनाढ्यों के घर बर्तन माँज रही हैं। उदारता के ताश के सारे पत्ते आजकल खुल चुके है। कवि चेतावनी देते हैं कि एक दिन बाज़ार में बेचने ही वाले बचेंगे, यानी कहीं होई खरीदनेवाला नहीं होगा, अर्थात् राजनीति के भविष्य में नेता ही बचे रहेंगे, नागरिकता बच नहीं पाती।

वर्तमान विकास की प्रक्रिया बुनियादी तौर पर अराजनीतिक है। बुरी तरह बाज़ारवाद से ग्रस्त अमानवीयता के परिप्रेक्ष्य में संस्कृति की रक्षा के हथियार उठाने का दायित्व राजनीतिक दलों पर निर्भर रहना स्वाभाविक है, लेकिन असलियत यह है कि राजनीति का वर्तमान मानवाधिकारों और लोकतंत्र के हानिकारक बन जाता है। स्वतंत्र बाज़ार की वकालत करके एक विस्थापित संस्कृति के निरर्थक अनुगमन में लगी हुई है समकालीन राजनीति। उस देश का भविष्य क्या रह जाएगा, जहाँ जनता को विकास के झूठे वादों पर घूमने फिरने देकर सत्ता हँस रही है। मदन कश्यप प्रश्न करते हैं-

"कैसा होता वह देश
जिसका शासक बडे से बडे मसलों को
तमाशे में बदल देता है
और जनता को तमाशाई बनने पर मज़बूर कर देता है।"[75]

राजनीति की ठोस विचारधाराएँ धन प्रभुत्व के सामने संवादहीन बनकर आत्मपहचान बेच देती है। दलों की विविधता से भरी हुई राजनीति पर सुधा उपाध्याय का व्यंग्य है-

"धन धन धन अधिनायक जय है
टोपी भाग्य विधाता
यही स्वर अब सब जगह गूँजेगा।
क्योंकि गली नुक्कड चौराहों पर बिक रही है टोपियाँ
न बेचनेवालों को इसका मोल पता है
न ही ख़रीदनेवालों को इसका भाव।"[76]

अक्षम, अयोग्य और अनुपयुक्त भागीदारी से राजनीति को भ्रष्ट करनेवाली पीढ़ी के हाथों देश का भविष्य बिकाऊ बन जाएगा। देश के सभ्यतामूलक प्रतिनिधित्व के अंतर्राष्ट्रीयकरण से बचकर व्यापारी प्रतिनिधित्व में अपनी सफलता समझनेवाले शासकों की निर्मिति इन्हीं राजनीति ने की है।

चुनाव के बाज़ार में धन के बल पर वोट बटोरा या ख़रीदा जाता है, नैतिकता बेची जाती है। राजनीति चुनाव की राजनीति में सिकुड गई है। इससे बचने के उपाय ढूँढ लेते हैं कवि लीलाधर जगूडी-

"इसको कैसे रोके
वे हथियारों और संक्रामक रोगों को आतंक का दूत बनाकर
अपने सारे विज्ञापनों को ख़बर या फीचर में छपवाकर
हत्या को हथियार के मुफ्त विज्ञापन में बदलवाते हैं
षड्यंत्र तो पहले ही फिट है
तंत्र के मसाले में जीवन का मसला किस यंत्र से देखें।"[77]

धनसत्ता और प्रभुसत्ता के बल पर देश की जनता को पूरी तरह से अप्रासंगिक बना दिया जाता है। राजनीति सेवा के बजाय रोजगार में बदल गई तो धन कमाना स्वाभाविक रूप से सदस्यों का लक्ष्य बन चुका इसमें कोई गलती नहीं मिल सकती। जनाधिकारों की रक्षा के लिए, संस्कृति की रक्षा के लिए नेता गण देश भर, राज्य-भर सफरों में निकलते हैं। पंकज राग की पंक्तियाँ हैं-

"जब बाज़ार हुकूमत पर चढ़ गया
तो सत्ता बाज़ार में उतर आई
जो सस्ता है, जहाँ अपना कुछ नहीं जाता
उसे ख़रीदो
उन्हें सरेआम नीलाम कर दो
यही दस्तूर है
लेकिन हम बाज़ारू नहीं है सांस्कृतिक है
हम प्राच्यविद है
इसलिए हमारे यहाँ अनुबंधों का विज्ञापन
जयघोष का रूपान्तरण बनता है।"[78]

अपने स्वार्थ सिद्ध करने की बाज़ारनीति वर्तमान राजनीति पर भी लागू हो सकती है। सरेआम अपने आदर्शों का नैतिकता और राष्ट्रीयता का शेयरबाज़ार में निवेश करके उसके उतार-चढ़ाव पर अपने को समर्पित करके सकल सांस्कृतिक बाज़ार के हिस्सेदार बन जाते है राजनीतिज्ञ। लीलाधर जगूडी इसे बाज़ार का नया प्रयोग मानते हैं। वे सोचते हैं कि सरस्वतीविहीन लोग जब धन कमाने के पीछे पडते हैं तो देश में राजनीति और धर्म दोनों अपराध में बदल जाते हैं। धर्म और राजनीति

के बाज़ार की फैलाई हुई अफवाह है कि सरस्वती और लक्ष्मी में बैर है। उनका मकसद यह है कि लोग रोटी की परिधि से बाहर न आ सके।

मतदाताओं को रोटी की परिधि में बाँधकर राजनीति के इतिहास में धन के प्रभाव और प्रवाह के नये-नये रास्ते जोडे जाते हैं।

नागरिक के सारे अधिकारों को लूटकर विजेता बन जानेवालों पर व्यंग्य करके कुमार अंबुज पूछते हैं-

> "न इसमें पराजय है न ग्लानि
> न युद्ध है न रक्त-पात
> यह एक शान्तिप्रिय कला है
> जहाँ शक्ति से नहीं
> शक्ति प्रदर्शन से भी निकल आते हैं रास्ते।"[79]

चुनाव में विजेता बन जाने के बाद चीज़ों का अर्थ बदल जाता है। सत्ता के आक्रमण को हम प्रेम महसूस करते हैं, लूट को हमारा समर्पण समझते हैं। हमें ध्वस्त करने का नाम होता है पुनर्निर्माण। हमारे पश्चात्ताप करने, दुःखी बनाने के अधिकारों को दाँव पर लगाकर ही हम अपने विजेताओं को चुन लेते हैं। वे एक प्रतिक्रियाहीन समाज के विजेता बन जाते हैं। अधिकार जमाने के लिए पोषक पार्टियों के संयुक्त मोर्चे पर सारे राजनीतिक दल विश्वास करते हैं। इतिहास और हम गवाह रहते हैं कि संसद में पक्ष-विपक्ष का संयुक्त नाटक चल रहा है। राजनीति का मतलब नीति से बहुत कुछ विचलित हो चुका है। समकालीन कवियों को ऐसी त्रस्त राजनीति की सत्ता, प्रायोजित धमकी बेचैन करती है। सामान्य जन की ज़रूरतों और अभावों से बिलकुल अनदेखा रहनेवाली राजनीति के समाजशास्त्र पर वे प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

जनतंत्र के जन-विरोधी हरकतों का पर्दाफाश करनेवाली लीलाधर मंडलोई की कविता है 'कि वहाँ पेड'। शासन में आसीन अयोग्य राजनीति पर कवि व्यंग्य और आक्रोश करते हैं, यह आक्रोश समकालीन कवियों की जनपक्षधरिता का सबल सबूत बन जाता है-

"मुझे होना चाहिए था संसद में
मेरी अनुपस्थिति से अब वहाँ अपराध
अनुपस्थिति का शाप इतना भयानक
मन्दिर में इन दिनों कब्जा शैतानों का।"[80]

राजनीति आज व्यवस्था का पोषक तत्व बनकर अपनी भाषा में बोल रही है, शैली को साफ दिखा रही है। इसमें विश्व बाज़ार के अनेक सूचक तत्व भी विद्यमान रहते हैं। इस राजनीति के भण्डाफोड करनेवाली समकालीन कविता सर्वहारा वर्ग के उत्थानकों और उद्धारकों के रूप में प्रदर्शित राजनीतिक कला को बाज़ार के खेल मानती है। कवि कह देते हैं कि विश्वगाँव के सपनों में मोहित होकर, विदेशी फोटू छपे चमकते सिक्के केलिए एक अपढ़ व्यक्ति के समान अपने को, देश को बेच देनेवाली सरकार की मूर्खता राजनीति की असहायता को सिद्ध करती है।

देश की सार्वजनिक संपत्ति पर सरकार के सारे अधिकारों को निजी संस्थाओं को सौंपकर दिन ब दिन उदार होनेवाली सरकार पैसे की खनक में पूरे देश को एक विकल्पहीन दुनिया में छोड देती है। सामाजिक रवैये पर राजनीति का गठन न्याय के समर्थन और देश की नीति की सुरक्षा के लिए हुआ था, वस्तु स्थितियों की आर्थिक पक्षधरिता उसको, अपने मूलभूत उद्देश्यों से हटाकर व्यावसायिक धरातल पर पहूँचा दिया है।

जनता की भूख और गरीबी के नये नये व्याख्यान देकर शासक वर्ग अधिकार पर झपट पडने के औजार के रूप में भी उसका कुशल उपयोग कर रहे हैं। समकालीन काव्य कथ्य में सत्ताधारियों द्वारा बहुराष्ट्रीयकरण के नाम पर अन्याय से साँटगाँठ करनेवाली आदत पर आक्रोश और प्रतिरोध भरा हुआ है। कवि के हर एक शब्द राजनीति के जनविपक्षी करतूतों पर प्रहार करता है और मानवीयता के पक्ष में सदा उपस्थित हो जाता है। जीने के अधिकार छीन लेने के विरुद्ध, समय के असमाधेय संकट में, युग की सोच समझ और विवेक को अपनी अहमियत समझकर बैठनेवाले राजनीतिक शासकों पर कवि प्रतिरोध से सारे चिन्हों को अंकित किया है।

4.9 आदिवासी और विस्थापन

बाज़ार के दौर में सांस्कृतिक विस्थापन आदिवासी समुदाय की सबसे बडी त्रासदी बन गई है। अपनी ज़मीन से, भाषा से, संस्कृति से काट जाने की पीडा झेलते हुए वे विकास की नई-नई योजनाओं से जूझते हैं पर अंत में अस्मिता की तलाश में जंगलविहीन होकर भटकते हैं। पहचान मिटने के खतरे का सामना करना आज उनकी सबसे खतरनाक चुनौती बन गई है। एक ओर बाज़ार उनको अपनी ओर खींच रहा है तो दूसरी ओर बाज़ार उन्हीं में फैल रहा है। जंगलों पर अधिकार जमाने की एक और कूटनीति यह भी चलायी रही है कि शताब्दियों से बिना किसी कानूनी अधिकार पाकर जंगलों में जी रहे आदिवासियों से जमीन स्वामित्व के कागजात माँगे जा रहे हैं। राष्ट्रीय पार्कों, जीव अभयारण्यों और बाँधों के निर्माण कर इकोटूरिज़्म के नाम पर मुनाफा कमा रहे हैं और वहाँ की आदिम जनजातियों को अपनी मिट्टी से बेदखल होना पडता है। विस्थापितों के लिए पुनर्वास का विकल्प सरकार द्वारा प्रस्तुत किया गया लेकिन साकार नहीं हुआ। कविता के वर्तमान में

बाज़ोरोन्मुख आदिवासी संस्कृति और उसके पीछे छिपे हुए दलालों के षड्यंत्र और पहचानयुक्त प्रतिरोध चर्चित हो जाते हैं।

आधुनिकता और औद्योगीकरण के संजाल में आदिवासियों को फँसाकर सरकारी और निजी संस्थानों द्वारा भारी मात्रा में ज़मीनों का अधिग्रहण और संस्कृति का विस्थापन किया गया। कवयित्री निर्मला पुतुल इस पर आक्रोश व्यक्त करती हैं-

"कि मेरे गाँव को मुख्यमार्ग से जोडने के लिए
सडक बनाना चाहते हो तुम
या मेरे गाँव तक पहूँचने के लिए
हमें बाज़ार उपलब्ध कराना है
या बाज़ार को
हम तक पहूँचने का देना है रास्ता।"[81]

विकास के झूठे वादे में छिपाकर पूरी आदिवासी संस्कृति को बाज़ार की चीज़ बनाने के विरुद्ध कवयित्री का सख्त प्रतिरोध है 'एक सार्थक चीख के पहले की गहराती चुप्पी'। अभी आदिवासी समझते हैं कि अनके जंगल की लकडियों से राजभवन आवास, पहाड तोडकर सडकें, सुअर बाल से जूते के ब्रश बनानेवाली आधुनिकता शोषण का, बाज़ार का दूसरा नाम है। कवि ज्ञानेन्द्रपति कहते हैं-

"इस अदिवासी गाँव के आँगन से गुज़रती हुई यह सडक
अत्याचारियों के गुजरने का रास्ता है
यह इनके पैरों से नहीं बना
यह इनके पैरों के लिए नहीं बना

बडे-बडे रोडरोलर आए थे लुटेरे वाहनों के आने से पहले

धरती कंपाते धीरे-धीरे चलते हुए रोडरोलर।"[82]

आदिवासी गाँव से गुज़रती सडक राजधानी से यहाँ तक पहूँची शोषण की सभ्यता की लुटेरी बाँह है, जंगल की छाती में छिपी अमूल्य खनिजों की खोज में, अपूर्व औषधियों की खोज में। ये सब आज बाज़ार की बहुमूल्य पूँजी है, जिनपर आदिवासियों का नहीं, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का एकाधिकार है।

आधुनिक तकनीक के नाम पर विकास की जितनी ही परियोजनाएँ निकली हो उनके सकारात्मक परिणामों से आदिवासी वंचित ही रहे। अपनी जीवन-शैली और परंपरा को भी खो देकर प्रकृति से अपना संतुलन बिगाड देकर भी तथाकथित सभ्य लोग उन्हें असभ्य ही मानते रहे। सैकडों वर्षों से अर्जित भाषा, संस्कृति और इतिहास को शोषण की राजनीति के सामने न्योच्छावर करने की नियति को पार करने के मार्ग समकालीन कविता ढूँढती है।

आदि संस्कृति में दबे-पाँव आकर उसकी सौदागरी करनेवालों को पहचानने की ताकत कविता भर देती है-

"कैसा बिकाऊ है तुम्हारी बस्ती का प्रधान

जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में रख्र देता है

पूरे गाँव को गिरवी

और ले जाता है कोई लकडियों के गट्ठर की तरह

लादकर अपनी गाडियों में तुम्हारी बेटियों को।"[83]

उन्हीं पदचापों को ज़रूर पहचानना है जो पूरी बस्ती को रिझाकर, खुद को बाज़ार के हाथों बेचने को मज़बूर करनेवाली पूँजीवादी साजिशों के उपनिवेश तंत्रों के हैं।

बाज़ार की तरफ भागती आदिवासी संस्कृति इन दिनों गड्डमड्ड हो गई है और कवयित्री कहती है कि कंक्रीट के पसरते जंगल में इनकी पहचान खो गई है। रोटी की परिधि में बाँधकर उनके प्रतिरोध को दबाया गया था पर अब वह संभव नहीं है। ऐसा विकास उन्हें नहीं चाहिए जिसके खातिर वे बेघर बन जाते हैं। शोषकों के बहुरूपों से आज वे परिचित हैं-

"ये वे लोग हैं जो खींचते हैं
हमारी नंगी-अधनंगी तसवीरें
और संस्कृति के नाम पर
करते हमारी मिट्टी का सौदा
उतार रहे हैं बहस में हमारे ही कपडे।"[84]

अपनी संस्कृति को , त्योहारों को, कला को बिकाऊ बनने से बचने के लिए आदिवासियों को विकास के प्रस्ताव पर निर्णय लेने से पहले ज़रा सोचना अवश्य पड गया है-

"अगर हमारे विकास का मतलब
हमारी बस्तियों को उजाडकर कल-कारखाने बनाना है
तालाबों को थोथकर राजमार्ग
जंगलों को सफाया कर अफिसर्स कॉलनियाँ बसानी है
और पुनर्वास के नाम पर हमें

हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए पर धकेलना है
तो तुम्हारे तथा-कथित विकास की मुख्यधारा में
शामिल होने के लिए
सौ बार सोचना पडेगा हमें।"[85]

आज 'लोक' का बाज़ार विस्तृत हो चुका है और हर एक त्योहार बाज़ार बनाने-बसाने का अवसर बन गया है। उत्सव संस्कृति का नहीं बाज़ार का बन जाता है। लोक संस्कृति के विभिन्न स्मृति चिह्नों को धारावाहिक बनाकर, प्रायोजित करनेवाला बाज़ार 'लोक' से संस्कृति को छीनकर, आदिवासियों से जंगल छीनकर हर कहीं सौदागरी का वातावरण बना देता है तो संघर्षरत रहना, सत्ताधारियों के सुख्र की नींद में नगाडे की तरह बजकर उन्हें जगा देना ज़रूरी बन गई है। समकालीन आदिवासी केन्द्रित कविता बाज़ार की साजिशों के प्रति सजगता और सतर्कता दिख्राती है, प्रतिरोध की आवाज़ उठाती है।

4.10 प्रकृति

बाज़ार के शिकंजे में पडकर अपनी संस्कृति को नगण्य समझनेवाली एक पीढ़ी के सामने प्रकृति का मतलब अनंत भोग की असीम संभावनाएँ ख्रोलनेवाली चीज़ रह गया है। मानव की सभ्यता और प्रकृति एक दूसरे का परिचायक और पोषक बनकर समृद्ध बननेवाले युग से 'भोग करके फेंक दो' की संस्कृति तक पहूँचकर नारी और प्रकृति भोग पिपासा के शिकार बनकर वस्तु में सीमित हो चुकी हैं। हर पल में, हर कण में मुनाफे की दृष्टि पड जाती है तो प्रकृति से जुडी संवेदना दोहन की नई-नई नीतियों में परिणत हो जाती है। आर्थिक और वाणिज्यिक पक्षों पर अकूत लाभ कमाने के लिए प्राकृतिक चीज़ों को बिकाऊ बनाने का बाज़ार तंत्र सामने

आता है तो सांस्कृतिक पक्ष में अपनी ज़मीन में अजनबी होने की नियति से मानव गुजर रहा है। समकालीन कवि अपनी पारिस्थितिक चेतना को इस सांस्कृतिक पक्ष से ज़्यादतर जोड देते हैं।

'कैसा पानी कैसी हवा' में चन्द्रकान्त देवताले याद दिलाते हैं कि व्यावसायीकरण हमारी संस्कृति में विकास के नये-नये अध्याय जोड देता है पर प्रकृति से बिछुडकर विकास के सारे कार्यक्रम विनाश में परिणत होंगे-

"कारख्राने ज़रूरी हैं
कोई अफसोस नहीं
आदमी आकाश में सडकें बनाए
कोई दिक्कत नहीं
पर वह शैतान, उसके नाख्रून, भयानक जबडे
वह शहरों-गाँवों पर मँडरा रहा है
और हमारी परोपकारी संस्थाएँ
हर घर से उसके लिए
जीवित माँस की व्यवस्था कर रही है।"[86]

कारख्रानों के धुएँ से धुँधली पडी दृष्टि हरियाली पर कैसे टिकी रह सकती है। अगली पीढ़ी के लिए कैसा पानी और कैसी हवा बची रहेगी, यही चिन्ता कवि को सताती है। धरती को तबाही के कगार पर ला ख्रडा कर देनेवाली शोषणनीति के प्रति समकालीन कवि सचेत है और विकास की संस्कृति के आवरण में अवतरित भयंकर विध्वंस देख्रकर सूचना देते हैं कि मानव के अस्तित्व और सभ्यता प्रकृति से जितना जुडा हुआ है।

नदी एक पूरी संस्कृति का मूल है। हमारी संस्कृतियाँ नदियों से अभिन्न ढंग से जुडी हुई हैं। लेकिन नगर के बसने के बाद नदी ने अपना इतिहास खो दिया है। ज्ञानेन्द्रपति अपनी रविता 'नदी और नगर' में बताते हैं कि शहरीकरण के बाद नदी एक विलुप्त होती संस्कृति का प्रतीक बन गया है। पहले नदी के किनारे शहर का निर्माण और नगर की सभ्यता की विकास हुआ था, और नगर बस बसकर नदी में भी बस गया और अब नगर के किनारे नदी बह रही है।

नदी की जीवनधारा को मोडकर बाज़ार बसाया जाता है तो संस्कृति के गिराव का अंतिम पदचाप सुनाया जाता है। नदी में पानी नहीं रेत ही बच जाता है वह भी बाज़ार के लिए कच्चा माल है। प्रकृति और उससे जुडी हुई सभ्यता से अलग हो जाना आसान है, पर पुनःस्थापित करना बाज़ार की भी ताकत के बाहर है। वीरेन डंगवाल की पंक्तियाँ हैं-

> "नहीं निकली नदी कोई पिछले चार-पाँच सौ साल से
> जहाँ तक मैं जानता हूँ
> न बना कोई पहाड और समुद्र
> एकाध ज्वालामुखी ज़रूर फूटते दिखाई दे जाते हैं
> कभी कभार।"[87]

प्रकृति के अनियंत्रित शोषण और असीमित उत्पादन के प्रोत्साहक, बाज़ार के नियंत्रक, प्रकृति से नहीं, पूँजी की नियंत्रणकारी अंतः संरचना से तालमेल बैठाने का समर्थन करते हैं। प्रकृति के प्रति ममता और अपनत्व की भावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं। 'पहले एक घर थी धरती' कविता में अशोक शाह इसी त्रासदी को व्यक्त कर

रहे हैं। हर कहीं सिर उठाकर मकान सभ्यता के पूर्ण विराम की तरह खडे हैं- पहले धरती एक घर थी। आजकल वह कंक्रीट और पत्थरों के मकानों में बदल रही है। धरती के अपनेपन की सारी सीमाएँ उस मकान के दीवारों के भीतर दबी हैं, कैद हैं।

प्रकृति की प्रत्येक चीज़ के अस्तित्व को सुविधानुसार बाज़ार के उत्पाद बनाकर अधिकाधिक उपयोग करने की नीति, उसे आर्थिक संरचना के एक मुख्य पहलू के रूप में तब्दील कर देती है। बहुमुखी विस्तार की असीम संभावनाओं को वित्तीय एक-ध्रुवीकरण में सीमित कर एकाधिकार जमानेवाला उत्तर साम्राज्यवाद संस्कृति और प्रकृति का समान रूप से विरोधी सिद्ध होता है। प्रकृति और संस्कृति के समतलीकरण पर भगवत रावत की व्याख्या है-

"कहीं मैदान था कहीं पहाड कहीं समुद्र कहीं जंगल
कहीं बर्फ कहीं दलदल कहीं रेत ही रेत
अब इन सबको मिलाकर एक घर बनाना था
और घर बनाना खेल नहीं था।"[88]

प्रकृति में मानव अपना हस्तक्षेप इतना बढ़ा दिया कि पहाडों की घाटियों को नदी की गति को, अपनी मुट्ठी की दूब समान रूपांतरित कर रहे हैं। लुप्त होती प्रजातियों के नमूने हमारी संस्कृति के स्मृतिचिह्न समान दूकानों को सजाकर रह जाएँगे। ज्ञानेन्द्रपति 'टेडी बियर में बचे हुए भालू' में बताते हैं-

"जंगली प्रदेशों से और बर्फानी प्रदेशों से
अन्ततः मिट गए भालू
टेडी बियर बनकर
दूकानों के शोकेसों में बैठे रहे अतीतातीत।"[89]

मनुष्य के अस्तित्व के ख़तरे की घंटी बजाकर नव निर्माण की यात्रा अपनी तेज़ गति पकडती है जहाँ प्रकृति के साथ मानवीयता भी भयग्रस्त है। विलासिता की सार्वभौमिक सभ्यता में बाहरी चिकनाहट है भीतर ही भीतर उजाड की आवाज़। कवि कुमार अंबुज को सुनाई देती है-

"ख़ंडहर हो रही वे सार्वजनिक चीज़ें सभी
नई ऊँची इमारतों का भय रोज़ चार कदम आता है करीब
जिनकी चमक दमक में ही छिपी
मेरे उजडने की दास्तान
यही है मेरा समाज
छिनती जा रही है जिसमें
एक मनुष्य के लिए ख़डे होने की भी जगह।"[90]

मनुष्य और उसके पर्यावरण को जानकर, उसकी अपनी जगह पहचानकर और उनके आपसी संतुलन पर ज़ोर देकर पनपनेवाली एक संस्कृति ही कवि का मतलब है। पर्यावरण के हर पहलुओं में, गुप्त प्रांतों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों और मीडिया की दुतगामिता कभी-कभी आपाधापी सी लगकर उसके समस्त सौन्दर्यशास्त्र को व्यावसायिकता से आवृत्त कर देती है। प्रकृति में सब कहीं बाज़ार की तलाश संस्कृति को भ्रष्ट कर रही है। सुन्दरता के भरपूर इस्तेमाल का व्यापारिक न्याय अपने वैश्विक आयाम में प्रकृति पर लागू करने से पर्यटन के नाम पर पर्यावरण का बलात्कार किया जाता है। बाँध बनाकर नदी की गति को रोक देने के साथ, बिजली का व्यापार भी चलाया जाता है और पानी के सौन्दर्य को बेचकर पर्यटन-बाज़ार भी बसाया जाता है। सांस्कृतिक प्रलय के समय को लीलाधर जगूडी यों अंकित करते हैं-

"विश्व बैंक की दूकानदारी में
सौर ऊर्जा पानी हवा बाँध और बिजली
सब कुछ आँख मिचौनी की तरह शामिल है
पृथ्वी कई प्रलयों से गुज़रने के बाद भी
कई व्यापारिक प्रलयों के लिए
ख़रीदी और बेची जा रही है
उनके गोपनीय चित्रों के सौदे हो रहे हैं
और मसौदे बन रहे हैं।"[91]

समकालीन कविता प्राकृतिक संस्कृति के बाज़ारीकरण के विरोध की कौंध उठाती है। उपभोगवादी सिद्धान्त के लागू करने से विनाश से गुज़रनेवाली प्रकृति की चेतना के प्रति मानव की संवेदना को जगाती है। उन्हें याद दिलाती है कि वह अपने अस्तित्व की तलाश प्रकृति में कर सकता है, बाज़ार में वह उससे वंचित रह जाएगा। समकालीन कवि का डर है कि आदमी की बढ़ती हुई भूख, भोग पिपासा प्रकृति को, पहाड, नदी और जंगल को पूरा का पूरा निगल जाएगी। रोडरोलरों से दबानेवाली ज़मीन के नीचे हमारी सभ्यता के महत्वपूर्ण मुद्दे विनष्ट हो जाते हैं और हम बेपहचान रहते है। समकालीन कविता इस रौंदी हुई संस्कृति को बचाने का सकारात्मक संकेत देती है और आदमी और प्रकृति के सह अस्तित्व का समर्थन करती है।

4.11 सौन्दर्य, स्त्री और बाज़ार

सौन्दर्य संस्कृति की उच्च आकांक्षा को प्रक्षेपित करनेवाली अन्तश्चेतना है जिसमें बाह्य और आंतरिक तत्वों का यथावत् समावेशन हो जाता है। लेकिन बाज़ार में सौन्दर्य कामुकता और आकर्षण के विभिन्न तरीकों का अश्लील संचयन बना जाता

है। शंभुनाथ का वक्तव्य है- "वस्तुओं, कलाओं और विचारों का लक्ष्य जब बिकना हो, तब उन्हें सभी रास्तों से आकर्षक बनाना ज़रूरी होता है। इस हालत में वस्तुएँ, कलाएँ और विचार न केवल सौन्दर्य बल्कि संस्कृति की भी सभी पूर्वधारणाओं से काटकर महज 'उपभोग्य वस्तु' बन जाते हैं, वे 'उपभोग के क्षण' का हिस्सा हो जाते हैं।"[92] सौन्दर्य की वास्तविक अवधारणा को धुँधलाकर कामोद्दीपक भावनाओं के विस्तार में क्रेता वर्ग के मनोविज्ञान को बाँध दिया जाता है। बाज़ार की इस प्रवृत्ति के लिए सबसे अधिक उपयोगी चीज़ ठहरती है नारी देह।

नारी सौन्दर्य के एकायामी इस्तेमाल बाज़ार के लिए सबसे लाभदायक है। नारी और सौन्दर्य की पवित्र अवधारणाओं से जुडी हुई संस्कृति बाज़ार के लिए उपयोगी नहीं सिद्ध हुई। सौन्दर्य और संस्कृति के बीच के सर्जनात्मक अंतर्संबध पर असीम वासना का हावी होना विकृत सौन्दर्य बोध पर परिणत हो जाता है। उत्तराधुनिक सौन्दर्य का संस्कृति से रिश्ता अंतिम रुप से टूट चुका है, क्योंकि वह अब सामाजिक या वैयक्तिक संस्कृति की उपज न होकर आस्वाद की उपभोक्ता संस्कृति की उपज है।

बाज़ार का सौन्दर्यबोध नैतिक असंतुलन का उप-उत्पाद है और सौदागरी में नारीछवि का दुरुपयोग करता है। मीडिया द्वारा, विज्ञापनों द्वारा, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं द्वारा एक अतृप्त, वासनालिप्त सौन्दर्य पद्धति का पैकेजिंग किया जाता है और यह धारणा फैलायी जाती है 'खुला रहना' उत्तराधुनिक सौन्दर्य चिंतन है।

आकर्षणीयता की बनी-बनायी जीवन-शैली के अनुकर्ता बनाकर सौन्दर्य को सहजता से अलग करना बाज़ार की कला है। मंगलेश डबराल प्रमाण दे रहे हैं-

अमेरिका में रोना मना है
उदास होना मना है
एक बहुत बडी आँख्र सबको देख्र रही है
पीछे मुडकर जीवन को देख्रना मना है
वह किस्सा किसे नहीं मालूम
कि आलीशन दूकान में सामान बेचती
एक दुबली-सी लडकी
जो कुछ सोचती हुई सी बैठी थी
एक दिन एक ग्राहक के सामने मुस्कराना भूल गई
शाम को उसे नौकरी से अलग कर दिया गया।"[93]

सहजता नहीं, यांत्रिकता बाज़ार की संस्कृति की नीति है। माल बिकना बाज़ार की ज़रूरत है, सौन्दर्य की उच्च व्याख्या करना नहीं, सौन्दर्य की प्रतीति करना उसका लक्ष्य बन जाता है। ख्ररीद-बिक्री की होड में प्रतिक्रियाविहीन होकर शामिल हो जाना नारी और सौन्दर्य दोनों की आधुनिकता है।

बाज़ार स्त्री के सौन्दर्य का, उसकी देह का, सबसे अधिक ध्यान रख्रता है। आकर्षणीयता उसका अनिवार्य शर्त बताया गया है। उपभोग से मिलनेवाले आनन्द में ग्राहक के सौन्दर्यबोध को समेटने में बाज़ार सफल हुआ है। मनुष्य भौतिक ज़रूरतों से परिचालित और निर्देशित 'माल' बन जाता है तो कवि विष्णु नागर एक नारी के प्रतिरोध को पंक्तिबद्ध करते हैं-

तुम मेरी देह में अपना
नंगापन ख्रोजने लगोगे इसलिए मैंने

अपनी देह में रहना तक छोड दिया
तुम मेरे बच्चों के भोलेपन का विज्ञापन करने लगोगे
इसलिए मैंने माँ बनना तक स्वीकार नहीं किया।"[94]

बाज़ार ने नारी के सौन्दर्य की नई-नई परिभाषाएँ घटित की हैं और उसके अनुरूप बाज़ार के लिए सुसज्जित सौन्दर्य के उपासक नारी वर्ग की रचना भी की है। बाज़ार स्त्री को मनवाने का ऐसा तरीका अपनाता है, पहले उसपर सशक्त उपयुक्त नारी का लेबल लगाकर उसके सौन्दर्य की पूरी संभावनाओं को क्रेताओं के सामने खोल देने को प्रेरित कर देता है। नारी के वैश्विक रूप का प्रोत्साहन बाज़ार का बहावा है जिसके पीछे भोगवादी मानसिकता काम कर रही है। उपयोगितावाद पर आधृत नारी के वर्तमान स्वरूप पर कात्यायनी लिखती हैं-

"रात को ठीक ग्यारह बजकर तैंतालीस मिनट पर
दिल्ली में जी-बी रोड पर
एक स्त्री
ग्राहक पटा रही है।
बंबई के एक रेस्त्रा में
नीली गुलाबी रोशनी में थिरकती स्त्री ने
अपना आखिरी कपडा उतार दिया है।
और किसी घर में ऐसा करने से पहले
एक दूसरी स्त्री
लगन से रसोई घर में
काम समेट रही है

ठीक उसी रात उसी समय
नेल्सन मंडेला के देश में
विश्व सुन्दरी प्रतियोगिता के लिए
मंच सज रहा है।"[95]

देह व्यापार में हो, घर में हो, सौन्दर्य प्रतियोगिता में हो शोषण की रणनीति एक ही है। हर कहीं नारी सौन्दर्य का उपयोग पुरुष को आकर्षित करने, रिझाने के लिए किया गया। किसी भी स्थिति में 'भोग्या' या बाज़ार के 'पोडेक्ट' के रूप में नारी को दिखाने के उत्तराधुनिक तरीके अपनाये गये।

बाज़ार में उपयुक्त सौन्दर्य प्रसाधन के सारे उद्योग स्त्री को सिर्फ एक देह बनाये रखने के सिद्धान्त पर आधारित है। अपने मोटेपन, साँवलेपन, रूखी त्वचा, बेजान बाल को अपराध की तरह देखनेवाली नारी के सामने बाज़ार ने गोरेपन को उत्कृष्टता के प्रतीक के रूप में खडा कर दिया है। मॉडलिंग के मोहजाल में अपनी दैहिकता को प्रदर्शित करने को तैयार होनेवाली नारी विज्ञापन जगत की सबसे उत्पादक पूँजी बन जाती है। लीलाधर जगूडी की 'विज्ञापन- सुन्दरी' इस सच्चाई को बारीकी से प्रस्तुत करती है-

"कंपनियों की कठपुतलियाँ विज्ञापन सुन्दरियाँ
एक अकर्मण्य सा परिधान बेचती है।
एक अस्वीकार्य सा वस्त्र स्वीकार्य करवाती है,
कम लंबाईवालों के बीच ज़्यादा लंबी-लंबी बेजोड स्त्रियाँ
जिनमें बौद्धिक सौन्दर्य की तलाश

उन्हें अबौद्धिक मान लेने से हुई है

थे स्वतः स्फूर्त सौन्दर्य की धनी भरोसे की स्त्रियाँ नहीं है।"[96]

इनके बीच कवि उस समझदारी नारी की तलाश करते हैं, जिन्होंने देह प्रदर्शन को अपना जीवन दर्शन न बना रखा है।

देह व्यापार की सौदागरी का मंच बन जानेवाली विज्ञापन दुनिया पर कवियों की दृष्टि टिकी हुई है। आधुनिक नारी को यह सोचने के लिए बाज़ार बाध्य बनाता है कि मैं कैसे दिखती हूँ (मैं कौन है के स्थान पर)। मिस वर्ल्ड, मिस युनिवर्स आदि सौन्दर्य प्रतियोगिताओं के बहाने स्त्री के सौन्दर्य को 'वैश्विक' रूप देने का प्रयास चल रहा है। भावना और सहजता को समाप्त कर बाज़ार संचालित-प्रायोजित सौन्दर्यबोध को समकालीन कविता नकारती है।

विश्व सुन्दरियाँ किसी ब्रांड के मार्केटिंग में लगी रहकर ब्रांड संस्कृति का प्रसार करती है। स्त्री के दैहिक सौन्दर्य के नाम पर उसके बाल, आँख, गाल, पैर, कमर आदि अंगों में बाँटकर बाज़ार अपने ब्रांड को बेच रहा है। स्त्री को सौन्दर्य के बिखरे हुए रूपों में दिखाया गया है।

'सौन्दर्य' का नाम 'ग्लैमर' में तब्दील हो चुका है, सौन्दर्य के सारे प्रतिमानों को तोडकर बाज़ार उसकी खरीद-बिक्री कर रहा है। परंपरा और संस्कृति से जुडे मानदण्डों को तोडकर बाज़ार नये सौन्दर्यशास्त्रों की रचना में रत हैं जिसके साथ नारी मनोविज्ञान भी मोडा जा रहा है। नैतिकता के सारे बंधनों को तोडनेवाले बाज़ार के विस्तार का समकालीन कविता अपनी पूरी ताकत से विरोध करती है। बाज़ार में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए और पुरुष के समतुल्य बन जाने के

लिए स्त्रियों का अनैतिक कार्य व्यापारों की ओर उन्मुख होने के प्रति कवि व्याकुल है। अर्थोपार्जन के लिए अस्मिता बेचना अभी अनैतिक नहीं समझा जाता है। रंजना जायसवाल की 'जब मैं स्त्री हूँ' कविता बाज़ार के लिए पूरी तरह उपयुक्त आधुनिक नारी को अंकित करती है। कविता यह पेश करती है कि स्त्री को पढ़ाया जाता है कि वह स्त्री है जब वह स्त्री है तो उसे दिखना भी चाहिए स्त्री की तरह। मशलन उसके केश लंबे, स्तन पुष्ट और कटि क्षीण हो, यह अनिवार्य है। देह हो तुली इतनी कि इंच कम न छटाँक ज़्यादा हो जाय। बिल्कुल-ख़ूबसूरत रही डस्टबिन की तरह जिसमें डाल सकें वे देह, मन, दिमाग का सारा कचरा और वह मुस्कुराता रहे- 'प्लीज़ यूज़ मी'। यही उपयोगितावाद का सिद्धान्त आजकल बाज़ार नारी पर लागू करता रहता है।

नारी बाज़ार में वस्तुओं का पर्याय बन जाती है जिसका वह मॉडल बन जाती है। बाज़ार के चतुर सुजानों के बीच, बडे-बडे अनुबंधों के तहत वह अपनी प्रायोजित हँसी बाँटती रहती है। कवयित्री निर्मला पुतुल अपना प्रतिरोध व्यक्त करती है-

> "मैं तलाश रही हूँ तुम्हारी कमज़ोर नसें
> ताकि ठीक समय पर
> ठीक तरह से कर सकूँ हमला
> और बता सकूँ सरेआम गिरेबान पकड
> कि मैं वो नहीं हूँ जो तुम समझते हो।"[97]

विष्णु नागर की कविता 'बाज़ार' भी बाज़ार के प्रतिरोध का सख्त तरीख़ा दिखाती है। बाज़ार की प्रदर्शनी में भाग लेने से इनकार करके, उसे मार लेने को तैयार नारी का चित्र खींचती है कविता-

"सुन लो जब तक मैं तुम्हें ससे आम नंगा
करके तुम्हारी प्रदर्शनी
लगाने के काबिल नहीं बन जाऊँगी, मैं
पीछे ही हटती चली जाऊँगी ताकि तुम्हें
अपने पाले में ले आऊँ
फिर इतना मारूँ इतना मारूँ कि तुम उठ न सको
इसलिए अच्छा है, आगे बढ़ते ही आओ।"[98]

4.12 भाषा और साहित्य

सांस्कृतिक उपनिवेश का सबसे सफल मार्ग यह निकलता है कि संस्कृति की अभिव्यक्ति, संप्रेषण और सम्मिश्रण के माध्यमों को संवादहीन बना दिया जाय। आधुनिक बाज़ारवाद इस कला का कुशल पोषक बन गया है। एक देश की संस्कृति के बिखराव की सबसे पहली सामाजिक सूचना है, उसकी जनता अपनी मातृभाषा की अभिव्यक्तियों से विमुख होकर बाज़ार की सफल कामकाजी भाषा में अपने अनुभवों और अभिव्यक्तियों को ढूँढने लगे। बाज़ार में भाषा अपने सम्मोहक रूप में ग्राहक पटाने की क्रिया का औजार है और साहित्य नाम और धन कमाने की चीज़। विचारों की गहराई और परिपक्वता पर रोक लगाकर बाज़ार अपनी भाषा में बोलने लगता है और बाज़ार में टिके रहने के लिए उसी का अनुगमन करना आदमी की विवशता बन जाती है।

मूल्यों के औद्योगीकरण का एक ज़माना, उन्हें संकलित करनेवाली भाषा और परिपोषित करनेवाले साहित्य के लिए कदापि आशाजनक नहीं हो सकता। भाषा एक चेतना है जो केवल शब्द शक्ति पर आधृत नहीं होती प्रयोक्ताओं की संवेदनशीलता

और सांस्कृतिक पहचान का वहन और संप्रेषण भी करती है। बाज़ार की भाषा मीडिया और विज्ञापन की प्रायोजित भाषा है जो भूमण्डलीकृत होने की प्रक्रिया से गुजर रही है। सूचना और प्रौद्योगिकी की भाषा सृजनशीलता की शर्त नहीं बतरती एक सीमित दायरे में फँसी गई कृत्रिम अभिव्यक्ति का साथ देती है। मीडिया की भाषा अपनी असामाजिक, नग्न और कामचलाऊ बाज़ारू रूप में अपना हित साधती है, अपवाद बहुत कम ही मिलता है। आयातित सोच-विचार पर पूरा देश बहस कर रहा है और भाषा की राष्ट्रीयता समाप्त हो रही है। एक सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में भाषा जिस भूमिका को निभा पाती थी, वह आज व्यापारिक हितों के पूर्तिकरण के साधन के रूप में बदल चुकी है।

भाषा के अवमूल्यन के साथ-साथ साहित्य भी लाभेच्छु कामकाज के रूप में बदलने लगा है। अंग्रेज़ी वैश्विक विचारधारा के संवाहक बनकर, अवसरवादिता का सूचक बनकर, देशी भाषाओं की अस्मिता को क्षत-विक्षत कर रही है। मातृभाषा से विचलित होकर भूमण्डलीय भाषा में सोचना अभिव्यक्त हो जाना गौरव की बात समझनेवाली एक पीढ़ी समझ नहीं पाते हैं कि अपने बहुमूल्य सांस्कृतिक धरोहर के प्रति वे कितने नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं।

बाज़ारवाद के दौर में साहित्य के अंत की घोषणा की जाती है जो भाषा और साहित्य को संवेदनात्मक धरातल से नीचे गिराकर बाज़ार की पृष्ठभूमि में डाल देने की साजिश है। समकालीन कवि भाषा की प्रतिक्रियावादी स्वर के बुझ जाने की आशंका को पांक्तेय करते हैं।

बाज़ार के लिए मानव केवल उपभोक्ता है, लेकिन साहित्य मानवीयता की पहचान अपनी सृजनात्मकता का लक्ष्य अवश्य समझता है। फिर भी समय से

समझौता करना कभी कभी उसकी भी नियति बन जाती है। ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'टी.वी. युग के कवि' इस यथार्थ को पेश करती है-

"बेचैनी नहीं, तडप नहीं
संशय नहीं सवाल नहीं
सुहाऊ और सजाऊ
कवि टी.वी. युग के
आओ छाओ
चितवती जनता चेतेगी कैसे के
चितचुराऊ प्रोग्रामों में।"[99]

मीडिया के ध्वनिविन्यास में मनोरंजन के नये-नये आकाशों में विचरनेवाली मानसिकता आज कवि की पकड के बाहर की हो गई है। कवि के आधुनिक होने का सूचक है अनका टी.वी. युग के योग्य बनना। तभी वे पॉपुलर कल्चर के सहगामी हो सकते हैं। भाषा से उसका सही अर्थ गायब हो जाने के प्रति कवि की व्याकुलता है बद्रीनारायण की कविता 'चिडियों के निष्कासन के खिलाफ एक बयान' कविता में कवि की आशंका है कि तेज़ी से कविताओं में सब कुछ बेअर्थ होने लगा है और यह तो ज़रूर इस सभ्यता का सर्वग्रासी संकट है कि शब्दों से भाव अलग हो गए हैं।

कवि की वैचारिक गुलामी उसकी भाषा के प्रतिरोध की ताकत को, सच के समर्थन के साहस को दबा देती है, भाव शून्य पदों से कवि कर्म को निरर्थक बना देती है।

इलक्ट्रोनिक मीडिया की चकाचौंध में पुस्तकें आज बाज़ार की अलमारियों के सजावट के उपकरण बन चुकी हैं। छपे हुए शब्दों को पढ़ने की आदत से अधिक लाभदायक और सुविधाजनक है अनेकेन्द्रियों को एकसाथ प्रभावित करनेवाली इलक्ट्रोनिक मीडिया। पुस्तकालयों की पेट और अलमारियों के पटों में सजावटी चीज़ों की तरह किताबों को बन्द रहनेवाला ज़माना आ गया है। कवि के शब्द हैं-

"देख्रो तो कितनी ख्रूबसूरत किताबें छपने लगी है यहाँ
महँगी हुई तो क्या नयनाभिराम
तुम्हारी बौद्धिक संस्कृति की सुदर्शन पृष्ठभूमि

ये किताबों की बाँहें है
आदमी के इर्द-गिर्द
जिन्हें सबसे पहले तोडता है
पूँजीवाद का रंगीन बुलडोज़र।"[100]

मानवता के पक्ष को बलवती बनाकर शब्दों की ताकतों से भरी हुई किताबों को, पढने-लिख्रने की सृजनशील सभ्यता को पूँजीवाद के बुलडोज़र काट डालते है। नवीन मीडियाओं की विविध रंगीनता में पुस्तकों की परंपरा फीकी पड जाती है, जनता की बौद्धिकता को दिशाविहीन बनाने के लिए एक सक्षम माध्यम के रूप में शब्दों की संस्कृति पर रोक लगाई गई है।

बद्री नारायण की कविता 'एक कवि की बिक्री' में एक संवेदनशील मन के रहने के कारण बाज़ार में कम कीमत में अपने को बेचने के लिए उपस्थित एक कवि की हालत का चित्रण है। शॉपिंग मॉल में बाकी सब कुछ कवि से ज़्यादा कीमती है।

फिर भी अपने बाज़ार भाव बढ़ाने की चालाकी न अपनाने के कारण उपभोक्तावर्ग को आकर्षित न कर सकनेवाले साहित्यकार वर्तमान समय में साहित्य के उपयोगितामूल्य पर प्रश्न खडा करते हैं-

"मैं बैठा हूँ बिक्री के लिए बीच बाज़ार में
एनाउसमेंट पैकेजिंग सुरक्षा जाँच
लिफ्ट की सीढ़ियाँ और मास्टर कार्ड
फिर भी कोई मेरी ओर ध्यान नहीं दे रहा है।"[101]

बाज़ार में अपनी माँग पैदा करने हेतु साहित्यकार को अपनी अहमियत भूलकर क्या-क्या करना पड रहा है, कविता इसका दस्तावेज़ प्रस्तुत करती है। अपने को हर तरीके से विज्ञापित करके व्यापार के सारे उपाय अपनाने पडते हैं, एक खतरनाक धुविधाजनक संस्कृति का हिस्सा बन जाना पडता है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अपने उत्पाद के हक में उपभोक्ता के मनोविज्ञान को बदलने में सक्षम भाषा का मीडिया द्वारा प्रचार-प्रसार किया जाता है। जनता की चित्तवृत्ति में होनेवाले बदलाव को, साहित्य पर पडनेवाले कलात्मक असर को परखना आज के साहित्य की ज़रूरत बन गई है।

मीडिया द्वारा चैनलों का भरमार प्रस्तुत किया जा रहा है और न्यूज़ चैनलों से 'एक्सक्लूज़िव' नाम से दर्शकों को आकर्षित करने हेतु अनैतिक समाचारों का भी बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शन किया जाता है तो कवि को डर लगता है-

"डर लगता है दिल दहल जाता है
यह सोचकर कि कहीं कोई न्यूज़ चैनल

अपनी टी.आर.पी बढ़ाने के लिए

स्टूडियो में बलात्कार का लाइव न दिखाने लगे।"[102]

दर्शकों की सस्ती रुचियों के पोषण करके चैनलों के टी.आर.पी. बढाने के लिए ख़बरों को ताज़ा बनाने में, भाषा और जनसंचार की सारी नैतिकता-मूल्य हाशिए पर धकेल दिये जाते है।

दुनिया में अमरीकीकरण की प्रक्रिया के चलते भाषाई वर्चस्व को थोपा जा रहा है। बाज़ार बता रहा है कि समाज में कवि या साहित्यकार किस तरीके से, कितनी तीव्र मात्रा में, किन-किन जगहों पर बोलें या चुप्पी साधें और शब्दों को कैसे छुपाकर रखें। मंगलेश डबराल इस असमंजस्ता को व्यक्त कर रहे हैं-

"मेरे लिखे हुए शब्दों को उल्टी तरफ से पढ़ रहा है

मेरी भाषा में उगे हुए पेडों- पहाडों को समतल कर रहा है

उनकी नदियों का पानी सुखा रहा है।"[103]

भाषा और साहित्य पर बुरी तरह से आक्रमण करनेवाले साम्राज्यवाद के प्रति सचेत कवि की बेचैनी है कि समयानुकूलता का मतलब आज पूरी तरह बदल चुका है। समय को साथ लेना नहीं, समय की माँग के अनुकूल अपने को मोड देना विश्व साहित्यकार होने के लिए अत्यंत ज़रूरी बन गया है।

बाज़ार में साहित्य और कला मुनाफे का सबसे सुन्दर संसाधन बन जाते हैं। कुमार अंबुज की पंक्तियाँ हैं-

"इस नव्यतम सदी में अब मुझे भी

वही भाषा और वे ही शब्द बोलने हैं

जो अपने एकार्थी रूप में समझे जा सके।"[104]

कवि कह देते हैं कि आत्माभिव्यक्ति के समय, रुदन और प्रसन्नता के अतिरेक में निकलनेवाले मातृशब्दों को दुनिया के एकरूपी शब्दकोशों से निष्कासित किया जा रहा है। एक ऐसी भाषा में बोलना पड रहा है, जिससे आत्मा से निकलनेवाले अपनेपन कहीं खो गया है। भाषा के क्षेत्र में भी एकाधिकार जमानेवालों की भाषा में सोचना-अभिव्यक्त होना पड रहा है। बद्रीनारायण साहित्यकार की इस बेचैनी से त्रस्त हैं-

"अब अजब रिश्ता है मेरे और मेरे शोषकों के बीच
कि जिनके खिलाफ मुझे कहना है
उन्हीं से माँगने है उस 'कहन' के सारे स्रोत।"[105]

'यथास्थिति में' कविता में कुमार अंबुज साहित्यकार की वर्तमान नियति पर टिप्पणी करते हैं और इसी सताती चिंता से गुज़रते हैं कि रचनाकार भ्रष्ट आचरण करते हुए रचनाशील रहेंगे आजकल और किसी संगठन में शामिल होकर सुरक्षित भी हो जाएँगे। बाज़ार के ज़माने में सबसे महँगी बिकनेवाली चीज़ ही सबसे मूल्यवान कला कहलाएगी।

कला के बाज़ार में भी यह अर्थनीति सच निकलेगी कि महँगा रहना मूल्यवान होने का सूचक है। इस यथास्थिति को चालू रखकर साहित्य और कला को भी सबसे रचनाशील तरीके से व्यापार में सफल बना सकते हैं। कवि को विज्ञापन की भाषा में बोलना एक संस्कृति के खण्डहर को भी नष्ट कर देना है।

भूमण्डलीकरण और आर्थिक उदारीकरण की सामाजिक और सांस्कृतिक परिणति में देशी भाषाओं को विनष्ट करने के साथ-साथ उन्हें मूल्यहीन और मूलहीन बना देना भी शामिल हो जाता है। विकास की नई अवधाराणाओं में अपनी भाषा से

काट जाना और अंतर्राष्ट्रीय भाषा में अभिव्यक्त होना ज़रूरी समझा गया है। बाज़ार की पुरानी अवधारणा में वह उपभोक्ताओं के हितों ज़रूरतों और जातीय संस्कृति से संबंध रखते वक्त भाषा और साहित्य इतनी संघातक स्थिति में नहीं पहूँच गई थीं। बाज़ार का विस्तृत होना, भाषा के विकास में नहीं, विकृत होने में परिणत हुआ। नई पीढ़ी के पश्चिमीकरण या अंग्रेज़ीकरण बडी ही तेज़ी से चल रहा है तो समाज के उच्चस्तर की भाषा के रूप में अंग्रेज़ी ही प्रतिष्ठित हो चुकी है। भगवत रावत की पंक्तियों में संस्कृति की जडों तक को प्रभावित करनेवाले भाषा के बहुराष्ट्रीयकरण का सबसे सरल रूप द्रष्टव्य है-

"इस तरह मैंने जाना कि मेरे देश के होनहार बच्चे
अब बोली-बानियों में तुतलाते नहीं
पेट से ही अंगरेज़ी वर्णमाला और नर्सरी राइम्स
रटकर आते हैं और इशारा पाते ही बिना झिझके
घर आए मेहमान के सामने सुना देते हैं।"[106]

शैक्षणिक, व्यापारिक और सामाजिक महत्ववाली भाषा विश्वग्राम की भाषा अंग्रेज़ी बन चुकी है। साथ ही साथ 'हिंगलीश' का खूब प्रचार भी देशी भाषाओं की अस्मिता पर प्रश्नचिह्न खडा करता है। भाषा और साहित्य की आज़ादी देश की संस्कृति के विकास क्रम में सकारात्मकता की सूचना देती है तब आत्मा की भाषा के ऊपर एक आधुनिक भाषा का उपनिवेश संस्कृति के विध्वंस पर ही परिणत हो जाएगा। कवि पूछ रहे हैं कि साहित्य के अंत की घोषणा के बीचों बीच अब इस बात की किसे फिक्र है कि कविता का छन्द कितना बिखर गया है या भाषा अपने कितने सारे अर्थ को खोकर चल रही है। 'इन दिनों कविता का छन्द' में भगवत

रावत याद दिलाते हैं कि इन दिनों आदमी में कविता एक ऐसा प्रतिपक्ष है, जो किसी तरह अपने को बचाकर रहती है पर और कुछ बचा न पाने की विवशता में है।

साहित्य आज एक प्रायोजित पठनीयता की माँग कर रहा है। वैश्विक मार्केट के प्रकाशन संस्थाओं की माँग-पूर्ति का साधन बन गया है। अभिव्यक्ति पर उपनिवेश का इतिहास उतना नया नहीं है। दिनेश कुमार शुक्ल की कविता 'आगमन' की पंक्तियाँ हैं-

"तुम्हें पता ही नहीं
तुम्हारी कविता में वे
पहले से ही घोल चुके हैं
अपने छल के छंद
तुम्हारी भाषाओं के अंक मिथक किस्से मुहावरे
सिर्फ अजायब घर में अब पाए जाएँगे।"[107]

प्रतिक्रिया की भाषा को जीवन से बहिष्कृत करनेवाली साजिश के वक्त में भी चुप्पी साध नहीं सकनेवाले कवि का आह्वान है कि आज पहले से भी ज़्यादा सपाट होकर कविता को रोटी को रोटी कह देने की ताकत से भरा होना चाहिए। रोटी का तत्सम शब्द और कोई नहीं हो सकता। अपनी कविता 'चुनाव' में कुमार अंबुज स्पष्ट करते हैं कि आजकल चुप रहता तो बहुत ऐश्वर्यशाली होता, झूठ बोलकर प्रतिष्ठित हो सकता और अपनी भाषा-शैली में लचक विकट विनम्रता और चाटुकारिता भरकर लोकप्रिय हो सकता। पर कवि का प्रतिरोधी मन अपनी असहमतियों को छुपा नहीं सकता। अन्याय देखकर मौन रहनेवाले वर्तमान दौर में

बाज़ार के लिए अनुपयोगी रहकर भी सार्थक जीवन बितानेवाले कवि मौजूद हैं, यह एक सकारात्मक सूचना है-

"लेकिन मैं बोला वहाँ भी
जहाँ शक्तिशली लोगों को
लालच ने मूक बना दिया था
नहीं की मैंने
भाषा के अक्खडपन को बहिष्कृत
जो मन में रहा सबको बताया
इस तरह ज़िद की कि चुना
असफल जीवन।"[108]

जैसे कि भगवत रावत का कहना है झूठ, फरेब, अविश्वास, क्रूरता और हिंसा से लबलब भरी हुई इस दुनिया में कवि अपनी कविता की तरह सच बोलने की आखिरी कोशिश में लगे होकर, भाषा की सारी संभावनाओं को बाज़ार के लूट-मार के प्रतिपक्ष में खडा कर रहे हैं।

4.13 निष्कर्ष

समकालीन कविता उद्योग में कायांतरित एक संस्कृति के सुन्दर स्मृति शेष इतिहास की रक्षा की बात करती है। भोगवाद की परम सीमा पर आसीन सभ्यता को बाज़ारीकरण की विध्वंसकारी प्रक्रिया से बचते रहने के विवेक के प्रति सचेत बनानेवाले समकालीन कवि सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध एकजुट हो जाते हैं। आत्माओं और संवेदनाओं की सौदागरी के बीच कविता की मानवीयता को बचाये रखने की कोशिश करती है कविता।

अपनी संस्कृति और सामाजिक बोध को बाज़ार में ढूँढते हुए भटकनेवाले मानव को कविता उकसाती है कि आत्मपरिष्कार और आत्मप्रक्षालन की ज़रूरत पड गई है। इन्सानियता के हर लम्हे को टांककर समकालीन कविता सांस्कृतिक वर्चस्ववाद के फैलाव में पूँजी के अमानवीय चेहरे से प्रतिरोध करती है। उपभोक्ता में रूपान्तरित मानव को ख़रीद-फरोख्त के बाहर के सांस्कृतिक-सामाजिक क्रियाकलापों के भी सहभागी बनाना चाहते हैं समकालीन कवि। विश्व बाज़ार में अपने कीमत निर्धारण का अधिकार बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथ सौंपकर विकल्पहीन अस्तित्व को लेकर संघर्ष करने से स्वयं बच पाने के लिए रिश्तों, मूल्यों की धडकनों को, आत्मा की चेतना को बाज़ारीकृत न करने की प्रेरणा देती है समकालीन कविता।

संस्कृति के भूमण्डलीकरण में गाँव की ज़िन्दगी, आदिवासियों की असलियत व्यापार केन्द्र बन जाती हैं तो प्रतिरोध के सारे मार्ग अपनाते हैं कविगण। स्मृति के सुगंध को सुरक्षित रख्रना चाहते हैं वे। धर्म और राजनीति में उपभोक्तावाद के दमनतंत्र चालू होकर वे जब बाज़ार के सबसे मुनाफेदार चीज़ बन जाते हैं तो इस कूटनीति से आम जनता को बचा लेने की कोशिश में लगी हुई है, कविता। नारी के सौन्दर्य को बाज़ार में अकूत मुनाफे का उत्पादक समझने से प्रतिवाद करती है कविता की समकालीनता। आयातित और प्रायोजित जीवन के व्यावसायीकृत मूल्यों में अपनी अस्मिता की पहचान देकर कवि यह सिद्ध करना चाहते हैं कि काव्य-भाषा बाज़ार की सौन्दर्य पद्धति को पूर्णतः अपनी संस्कृति नहीं बनाती है, जिजीविषा के स्वर उसमें अभी बचे हुए हैं। सामाजिकता के नकार के विरुद्ध, संस्कृति के व्यापार के विरुद्ध आवाज़ का प्रतिरोध कविता ही कर सकती है।

संदर्भ-सूची

1. सुधीश पचौरी - उत्तराधुनिक साहित्यिक विमर्श, पृ.34
2. अरुण कमल- मैं वो शंख महाशंख, पृ.53
3. आलोचना, जनवरी-मार्च 2014, पृ.84
4. कुमार अंबुज- क्रूरता, पृ.43
5. विश्व रंजन- आती है बहुत अन्दर से आवाज़, पृ.85-86
6. आलोचना, जुलाई-सितंबर- 2003, पृ.46
7. बद्री नारायण - ख़ुदाई में हिंसा, पृ.43
8. कात्यायनी- इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ.85
9. बलदेव वंशी- धरती हाँफ रही है, पृ.76
10. उमाशंकर चौधरी- कहते हैं तब शाहँशाह सो रहे थे, पृ.64
11. मुकेश मानस- पतंग और चरख़डी, पृ.20
12. श्यामचरण दुबे- विकास का समाजशास्त्र, पृ.157-158
13. समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई -अगस्त 2011, पृ.90
14. निलय उपाध्याय- कटौती, पृ.12
15. संजय कुंदन- योजनाओं का शहर, पृ.40
16. समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च-अप्रैल 2004, पृ.92
17. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ.34
18. कुमार अंबुज- क्रूरता, पृ.51

19. समकालीन भारतीय साहित्य- नवंबर-दिसंबर-2006, पृ.32-33

20. विनय विश्वास- पत्थरों का क्या है, पृ.39

21. नीलेश रघुवंशी - घर निकासी, पृ.82

22. मधुमति, जून 2007, पृ.54

23. राजेश जोशी- दो पंक्तियों के बीच, पृ.55

24. एकांत श्रीवास्तव- बीज से फूल तक, पृ.76

25. सुधा उपाध्याय- इसलिए कहूँगी मैं, पृ.25

26. समकालीन भारतीय साहित्य- नवंबर-दिसंबर-2008, पृ.27

27. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई-अगस्त-2011, पृ.183

28. मदन कश्यप- नीम रोशनी में, पृ.88

29. लीलाधर जगूडी- ख़बर का मुँह विज्ञापन से ढ़का है, पृ.105

30. कैलाश वाजपेयी- हवा में हस्ताक्षर, पृ.32

31. भगवत रावत- अम्मा से बातें और कुछ लंबी कविताएँ, पृ.52

32. मदन कश्यप- कवि ने कहा, पृ.12

33. मंगलेश डबराल- नये युग में शत्रु, पृ.64

34. समकालीन भारतीय साहित्य- मई-जून-2009, पृ.41

35. मदन कश्यप- नीम रोशनी में, पृ.77

36. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ.95

37. पंकज राग-यह भूमंडल की रात है, पृ.117

38. लीलाधर जगूडी- ईश्वर की अध्यक्षता में, पृ.30

39. महेश संतोषी-अलविदा बीसवीं सदी, पृ.56

40. बद्री नारायण-खुदाई में हिंसा, पृ.105

41. मंगलेश डबराल- आवाज़ भी एक जगह है, पृ.58

42. मंगलेश डबराल- नये युग में शत्रु, पृ.41

43. बद्री नारायण-खुदाई में हिंसा, पृ.47

44. अरुण कमल- नये इलाके में, पृ.27

45. एकांत श्रीवास्तव- बीज से फूल तक, पृ.91

46. भगवत रावत- देश एक राग है, पृ.59

47. अरुण कमल- मैं वो शंख महाशंख, पृ.51

48. भगवत रावत- ऐसी कैसी नींद, पृ.34

49. वही, पृ.34

50. विनोदकुमार शुक्ल-अतिरिक्त नहीं, पृ.105

51. विनय विश्वास- पत्थरों का क्या है, पृ.65

52. वीरेन डंगवाल-दुश्चक्र में स्रष्टा, पृ.25

53. भगवत रावत- ऐसी कैसी नींद, पृ.85-86

54. खगेन्द्र ठाकुर-रक्तकमल परती पर, पृ.77

55. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई-अगस्त-2011, पृ.72

56. कुमार अंबुज- अतिक्रमण, पृ.59

57. आलोचना, जनवरी-मार्च 2014, पृ.81

58. शंभूनाथ-सभ्यता से संवाद, पृ.10

59. यतीन्द्र मिश्र-ड्योढी पर आलाप, पृ.73

60. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई-अगस्त-2011, पृ.43

61. भगवत रावत- ऐसी कैसी नींद, पृ.46

62. भगवत रावत- अम्मा से बातें और कुछ लंबी कविताएँ, पृ.121

63. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई-अगस्त-2011, पृ.189-90

64. अष्टभुजा शुक्ल-दुस्वप्न भी आते हैं, पृ.40

65. कुमार अंबुज- अमीरी रेखा, पृ.65

66. लीलाधर मंडलोई- काल बाँका तिरछा, पृ.78

67. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई-अगस्त-2011, पृ.93

68. वीरेन डंगवाल- दुश्चक्र में स्रष्टा, पृ.19

69. लीलाधर मंडलोई- काल बाँका तिरछा, पृ.75

70. एकांत श्रीवास्तव- बीज से फूल तक, पृ.130

71. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई-अगस्त-2011, पृ.94

72. सच्चिदानन्द सिन्हा- भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ, पृ.135

73. अरुण कमल- मैं वो शंख्र महाशंख्र, पृ.73

74. राजेश जोशी- चाँद की वर्तनी, पृ.91

75. मदन कश्यप- कवि ने कहा, पृ.14

76. सुधा उपाध्याय- इसलिए कहूँगी मैं, पृ.54

77. लीलाधर जगूडी- ख़बर का मुँह विज्ञापन से ढ़का है, पृ.106

78. पंकज राग- यह भूमंडल की रात है, पृ.103

79. कुमार अंबुज- क्रूरता, पृ.64

80. लीलाधर मंडलोई- काल बाँका तिरछा, पृ.70

81. निर्मला पुतुल-बेघर सपने, पृ.40

82. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ.20

83. निर्मला पुतुल- नगाडे की तरह बजते शब्द, पृ.20

84. वही, पृ.33

85. निर्मला पुतुल-बेघर सपने, पृ.40

86. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई-अगस्त-2011, पृ.20

87. वीरेन डंगवाल- दुश्चक्र में स्रष्टा, पृ.24

88. भगवत रावत- ऐसी कैसी नींद, पृ.77

89. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ.152

90. कुमार अंबुज- अनंतिम, पृ.64-65

91. लीलाधर जगूडी- ईश्वर की अध्यक्षता में, पृ.53

92. शंभूनाथ- संस्कृति की उत्तरकथा, पृ.194

93. मंगलेश डबराल- हम जो देखते हैं, पृ.75-76

94. आलोचना, जनवरी-मार्च 2014, पृ.8

95. कात्यायनी- इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ.19-20

96. लीलाधर जगूडी- ईश्वर की अध्यक्षता में, पृ.21

97. निर्मला पुतुल- नगाडे की तरह बजते शब्द, पृ.56

98. आलोचना, जनवरी-मार्च 2014, पृ.8

99. ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा, पृ.93

100. वही, पृ.94-95

101. बद्री नारायण-ख़ुदाई में हिंसा, पृ.146-147

102. वाक्, अंक- 1, 2010, पृ.176

103. मंगलेश डबराल- नये युग में शत्रु, पृ.41

104. कुमार अंबुज- अतिक्रमण, पृ.60

105. बद्री नारायण-ख़ुदाई में हिंसा, पृ.72

106. भगवत रावत- ऐसी कैसी नींद, पृ.45-46

107. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई-अगस्त-2011, पृ.43

108. कुमार अंबुज- क्रूरता, पृ.97

पाँचवाँ अध्याय

बाज़ारीकरण के समय में काव्य-भाषा

समकालीन कविता शब्दों की अपरिमित संभावनाओं का संकेत देकर समय का मार्मिक साक्ष्य प्रस्तुत करती है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य भाषा को 'सर्जक और पाठक की साक्षात्कारात्मक स्मृति' का नाम दिया गया है। जीवित होने के एक बेहद तीक्ष्ण, उत्कट तरीके को व्यक्त करने की क्षमता दिखाकर कविता जीवन की सारी पृष्ठभूमियों का प्रतिनिधित्व भी करती है। एक अपरिभाषेय वस्तुस्थिति में वर्तमान कविता पाठक की चिन्ता को संबोधित करती है, संवेदना और संदर्भित अनुभूति के मेल से बनी एक भाषा में भावात्मक संप्रेषण के एक नवीन दृष्टिकेण पेश करती है।

दरअसल, भाषा कविता चर्चा में 'परिशिष्ट' नहीं रह गई है। गहरे सांस्कृतिक संकट के इस युग में कविता प्रतिरोध का रचनात्मक मुहावरा प्रस्तुत करती है। कविता का पक्ष, शोषण का, पूँजीवाद का, अमानवीयता का विपक्ष और प्रतिपक्ष है। इस जनपक्ष में कवि रचने की आज़ादी की बडी मुश्किल से रक्षा कर सकते हैं और पूरे एहसास और समझ से शब्द चुनते हैं। भाषा के इकहरेपन की आपत्ति उठानेवालों के सामने बाज़ार पूरी दुनिया को आर्थिक दृष्टि से एकरूपी बनाना चाहता है तब प्रतिरोध के सृजनात्मक उपायों में एकस्वरता कैसे उसका दोष हो सकता है।

चारों तरफ से घेर लेती उपभोक्ता संस्कृति में समकालीन कविता बाज़ारवादी मुहिम के प्रतिरोध और उससे संघर्ष करने की निरन्तरता में जीती है। मानवीयता के विरोध में उठती साजिशों के प्रति समाज को उद्विग्न करती रहती है कविता।

उपयोगितावाद का बोलबाला है कविता भी अपनी कलात्मक उपयोगिता को साधती है। सृजन के सामाजिक मन्तव्य का, पाठक के चित्त से साक्षात्कार कराने में काव्य भाषा अपनी पूरी सतर्कता दिखाकर सार्थकता प्राप्त कर सकती है। तभी

कविता की भाषा भावात्मक संप्रेषण करनेवाली सृजनात्मक उपलब्धि बन जाती है। मानवता के, भाषा के, साहित्य और संस्कृति के अवमूल्यन के खिलाफ समकालीन कवि अपने शब्दों को भाषा की प्रखर ताकत की उपयुक्तता सिद्ध करने के लिए संप्रेषणीय बनाते हैं।

5.1 भाषा

आधुनिक कविता भाषा के नवीन प्रयोगों से गुज़रकर शब्दों की सामाजिकता पर अधिक बल देनेवाले वर्तमान रूप में परिणत हुई है, एक उपभोगमूलक समाज में मनुष्य और उनकी बुनियादी संवेदनाओं की कविता बन गई है। माइकल राबर्टस के अनुसार कविता विशेष रूप से भाषा की संभावनाओं की खोज है। समकालीन कविता के संदर्भ में भाषा सतर्क पाठक की ज़रूरत भी माँगती है, अतः कविता भाव की भाषा बननेवाली स्वाभाविक प्रक्रिया बन गई है। इस प्रक्रिया की विभिन्न दिशाएँ हैं, अर्थविस्तार की विविधमुखी कोशिशें हैं-

5.1.1 अनौपचारिक भाषा

सामान्य जीवन में कविता अपने लिए 'स्पेस' बनाती है। वर्तमान दुनिया की पूरी तफ्सीलें, अपनी पूरी अनौपचारिकताओं को लेकर, वस्तुस्थिति की यथार्थता लेकर, कविता की भावजगत में आ पाती हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि समकालीन कवि सामान्य से सामान्य परिवेशों को भी कविता में प्रवेश कराकर जीवन के अनुभव को भाषा का भी अनुभव सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। किसी बाह्य उल्लेख की तरह, अलंकृत होकर कविता में प्रयुक्त होती भाषा का एकदम अभाव है। मानवता के ऊपर, देशी अर्थतंत्र के ऊपर स्थापित पूँजी बाज़ार की सत्ता के विरुद्ध लडती वाणी औपचारिकता की माँग नहीं करती।

बाज़ारवाद के नये और अवांछित दौर में कविता अपनी प्रतिबद्धता का निर्वाह आम जनता के जीवन और जिजीविषा को साथ लेकर करती है। बाज़ार के विविध रूपों, दृश्यों और संभावनाओं को जागरूक पाठकों के लिए बिना किसी अलंकरण के कवि प्रस्तुत करते हैं तो कविता को जीवन से अलग करना मुश्किल हो जाता है। विश्व बाज़ार व्यवस्था में मीडिया के भी सहारे, नगण्य स्थापित कर दी जानेवाली नैतिकता को कवि वसीम अक्रम 'ताज़ा ख़बर' में एक अनौपचारिक दस्तावेज़ के रूप में सूचित करते हैं तो उसे अवसुना करना असंभव हो जाता है-

"डर लगता है दिल दहल जाता है
यह सोचकर कि कहीं कोई न्यूज़ चैनल
अपनी टी.आर.पी. बढ़ाने के लिए
स्टूडियो में बलात्कार का लाइव न दिखाने लगे।"[1]

व्यक्ति के आत्मपरिष्कार की माँग करती कविता बाज़ार की संभावनाओं की संकेत निर्देशिका बन जाती है। पाठक की सोच और प्रतिक्रिया के लिए जगह अवश्य छोडती है। अपनी भाषा द्वारा अपना मतलब निकालने वाला बाज़ार उपभोक्ता की भाषा को व्यापार की भाषा में रूपान्तरित कर रहा है तो कवि की भाषा अपने अस्तित्व की रक्षा पर आधृत होना स्वाभाविक है। वे यह भी समझते हैं कि काल उनसे सीधेपन की माँग करता है, सामान्य जन के अतिसामान्य सपनों की भाषा के समान।

एक संस्कृति विरोधी विकास गाथा के युग में यथार्थ से सीधा संबंध करना आसान कार्य नहीं है। बाज़ार के क्रूर विस्तार तंत्र में, जहाँ सच कहना दूसरे सच को दबाना या कुचलना है वहाँ अपने को साबित करने के लिए कवि को अपनी चेतना

का विस्तार सही दिशा में करना ज़रूरी है। अरुण कमल की निम्नलिखित पंक्तियाँ भाषा को स्वयं विषय में रूपान्तरण की अनौपचारिकता का आख्यान करती हैं-

"जैसे सरकारी अस्पताल थे लेकिन वहाँ
रुई पट्टी तक न थी, नर्सें स्वेटर बुनती रहतीं
डाक्टर कभी- कभी सैर पर आते
और बेड के नीचे कुत्ते सोये रहते
केवल लाश घर पर सरकार का पूरा नियंत्रण था।"[2]

उपरोक्त पंक्तियाँ बिना किसी व्याख्या से ही वर्तमान स्वास्थ्य- बाज़ार के चित्र खींचती है। साथ ही साथ सरकार की उपस्थिति की नैतिकता पर भी सवाल करती हैं। बस पाठक की प्रतिक्रिया की अपेक्षा करती हैं। कवि अपनी वाणी द्वारा एक सर्वस्वीकृत और सामान्य मान ली गई स्थिति में बिना प्रयास से प्रवेश कर उसे ध्वस्त करने की इच्छा पाठक में जगाते हैं। बाज़ारोन्मुख व्यवस्था में कवि समाज के सामने चुनौती रखते हैं कि, धन- लिप्सा के प्रदर्शनकारी मंडप में समाजवाद के पूर्णाहुति के बारे लिख सकते हो तो कविता जीवित रहेगी। नहीं तो साम्राज्यवादियों द्वारा उसका अंत घोषित किया जाएगा। प्रतिरोध का यह साहस अलंकरणों के बीच नहीं पाया जाएगा। सच को सच कहना खतरनाक होकर भी समय की सबसे बुनियादी माँग बन गई है। जीवनधर्मी जटिलता का गहन बोध अनौपचारिक पदावली में तन्मयता प्राप्त कर सकता है।

5.1.2 दृश्य भाषा

समकालीन कविता में बाज़ार के विविध रूप और दृश्य, व्यक्ति से वस्तु बन जाने की नियति को सूचित करके चित्रात्मक रूप में उभर आते हैं। कुमार अंबुज ऐसे एक बाज़ार का दृश्य खींचते हैं-

"दूकानें अपनी मस्ती में थीं
और सजी हुई थीं जवान स्त्रियों की तरह
वहाँ लोग उठाए हुए थे बहुत सा सामान
जो हमारे शहर में पहले
दिखाई पडता था सिर्फ टेलीविज़न में।"[3]

टेलीविज़न के दृश्यों से सीधे ग्राहक के हाथों पहूँच गई चीज़ों ने जीवन को व्यापार बना दिया है। पूरे जीवन को इस प्रकार व्यवसायीकृत कर देने के अवांछित दृश्यों से गुज़रते कवि एक चतुर भाषा में समकालीनता के विभिन्न परिदृश्यों को पारिभाषित करने की कोशिश करते हैं। एक तरफ़ वह मनुष्य को केन्द्र में रखनेवाली भाषा है, दूसरी ओर मनुष्यता को खोजनेवाली भाषा।

बाज़ार के घोर आक्रमण की प्रतिक्रिया के विभिन्न पहलुओं को चित्रित करने का कवि का तरीका इसमें खुल जाता है। भूमण्डलीकरण से उपजी समस्त त्रासदी और विडंबना को सामान्य से सामान्य दृश्यों में अभिव्यंजित करती है समकालीन कविता। लीलाधर मंडलोई की 'कोई क्यों नहीं आता यहाँ' बाज़ारीकरण का एक शहरी दृश्य प्रस्तुत करती है-

"न बाल्कनी में चिडिया, धूप, बिल्ली, नातेदार
केवल सेल्स मैन (शहर एक बीमार आइना है)
इस शहर में जब भी खोलता हूँ दरवाज़ा
वह सीधे खुलता है बाज़ार में
देखता हूँ मैं शहर एक आधुनिक अखबार की तरह

फैलता जा रहा है जीवन पर
संपादकीय की जगह
हँस रहा है एक बडा-सा विज्ञापन।"[4]

बाज़ार जिस तरह मानव में निराशा एवं ख्रालीपन भर देता है, मानव की क्रय शक्ति की माँग करते हुए उसे अस्तित्वहीन ठहराता है, उसी अमानवीय परिदृश्य में समकालीन कविता 'संप्रेष्य' बन जाती है। बाज़ार के वृत्त से बाहर निकाल जाने की नियति के सामाने परास्त निरीह मानव को कवि कुमार अंबुज अपने में देख्र पाते हैं। उनकी कविता 'बाज़ार' से उद्धृत पंक्तियाँ इस निराशा के दृश्य को साकार करती हैं-

"इस वक्त था जूतों की दूकान के शोकेस के सामने
जहाँ लुभावने मॉडल्स के नीचे लिख्री थी जोडी की कीमत
सुंदर सेंडल देख्रकर याद आए मुझे पत्नी के ख्रुरदरे पाँव
मगर तीन सौ चालीस की पर्ची देख्रकर
मैंने पास से गुजरती औरत को ताकना शुरू कर दिया।"[5]

गद्य भाषा के एकदम निकट की भाषा में बाज़ार युग के उपभोक्ता समाज का अतृप्त चेहरा ख्रींचा गया है। चयन की लंबी कतार में ज़िन्दगी ख्रो जाने के विभिन्न दृश्य जया जादवानी की 'बाज़ार', निलय उपाध्याय की 'ख्रेती न करनेवाला किसान', एकांत श्रीवास्तव की 'ठंडे पानी की मशीन' स्वप्निल श्रीवास्तव की 'बाज़ार', जैसी अनेक कविताओं की वजह से सामने आते हैं। कुमार अंबुज की 'चाय की गुमटी' में महँगाई के प्रतिरोध का एक अलग दृश्य प्रस्तुत किया गया है।

सभ्यता को चुपचाप निगलनेनाली नवपूँजीवादी ताकतों का, उनके द्वारा फैलाई गई असुन्दरता और भयावहता का सामना करने की सतर्कता उजागर करती है समकालीन काव्य भाषा।

5.1.3 प्रतिरोध की भाषा

एक समाज की अभिव्यक्ति की आज़ादी पर बुरी तरह से अधिकार जमाता बाज़ार अपनी एक सर्वस्वीकृत भाषा के बल पर सामान्य जन को अपनी स्मृतियों से भी अलग करता है तो कवि उसका एक रचनात्मक प्रतिसंसार रचते हैं। वे घोषित करते हैं कि उनकी लडाई बाज़ार के खिलाफ नहीं, बाज़ारीकरण के अमानवीय शोषणतंत्र के विरूद्ध है। उस प्रक्रिया में अंतर्निहित क्रूरता और संस्कृति विरोधी असलियत को बेपर्द करनेवाली है काव्य भाषा की समकालीनता। कवि को अपनेपन के बाज़ारीकरण से भी लडना पडता है। 'देह की भाषा' में संजय कुंदन वर्तमान यथार्थ की सटीक टिप्पणी देते हैं-

"मिट रहा है भाषाओं का वजूद
हर आदमी सफल आदमी की जुबान
बोलना चाहता है
हर कोई अपनी देह को पिघला रहा
सबसे बिकाऊ साँचे के लिए।"[6]

कवि यह मानते हैं कि प्रतिरोध और उम्मीद का कोई विकल्प नहीं है, मृत्यु भी नहीं है। पूरी जनता को विश्वबैंक में गिरवी रखनेवाले व्यापारतंत्र में, मानव के हिस्से की दुनिया ही कवि को चिन्तित कराती है। वे पहचानते हैं कि वर्तमान हालत

में एक स्वयं संपूर्ण ग्रामव्यवस्था में वापस नहीं जान सकते। लेकिन समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों पर आधारित एक शोषणमुक्त नव संसार की रचना के लिए एकजुट होना अनिवार्य बन गया है। उपभोगमूलक सभ्यता के फैलने के विरुद्ध आवाज़ उठाना ज़रूरी बन गया है। लोक और देश को बचाते रखना ज़रूरी है। समकालीन कवि अपनी वाणी में इन सारी माँगों को लेकर संघर्ष और बाज़ारीकृत होने से असहमति भर देते है। निलय उपाध्याय की 'सबक' कविता ऐसे प्रतिरोध स्वर की सशक्त अभिव्यक्ति बन गई है-

"वे बनाएँगे महँगे सामान
हम नहीं ख़रीदेंगे
वे तय करेंगे सदी का रास्ता
हम नहीं चलेंगे
मोहक विज्ञापनों का असर
नहीं होगा हम पर।"[7]

राग तेलंग की 'शब्दों से', पंकज राग की 'ज़मीन आसमान', विमल कुमार की 'मुखौटा', लीलाधर मंडलोई की 'दीवाना कबीर' जैसी कविताओं में मनुष्य के वस्तुकरण का प्रतिरोध और अस्वीकार स्पष्ट झलकता है। कविगण स्वीकार करते हैं कि प्रतिरोध करना जीवित रहने का निशान है।

5.1.4 ज़िन्दगी की भाषा

समकालीन कविता में रूपकों की सृष्टि ज़िन्दगी को बचाते रखने के लिए की गई है। कविता में स्पष्टोक्ति से तात्पर्य सामान्य भाषा में कलात्मकता ढूँढ़ने की

आधुनिक प्रवृत्ति से है। भाषा और साहित्य के अवमूल्यन और उनके अंत की घोषणा के विरुद्ध समकालीन काव्य भाषा ज़िन्दगी की भावात्मक प्रतिक्रिया बन जाती है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी 'कविता और ज़िन्दगी' में आत्मस्वीकृति करते हैं-

"भोगी हुई ज़िन्दगी और लिखी हुई ज़िन्दगी तक
मैंने जो की है यात्राएँ
उन्हें आप कह सकते हैं मेरी कविताएँ
मगर मेरे लिए कविता ज़िन्दगी ही है
भाषा की सलीब पर लटकी हुई ज़िन्दगी
और मैं दोनों को साथ-साथ ढो रहा हूँ।"[8]

समकालीन कविता अपने समय की समझ से उद्‌भूत कविता है। जब बाज़ार की भाषा के आगे मनुष्य बौना बन जाता है, कवि उसकी वाणी बनता है।

अर्थशास्त्रीय दृष्टि से व्याख्यायित होनेवाले वर्तमान युग में कविता में भी अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकेत मिलते हैं। सूचकांक, मंदी, गैट करार विश्व व्यापार संगठन, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, ब्रांड सभ्यता, जैसे बाज़ार से जुडे विषयों पर कविताएँ लिखी गई हैं। विश्वगाँव की संकल्पना का यथार्थ चित्रण रामदरश मिश्र की 'विश्वग्राम' कविता में मिलता है।

बाज़ार के अंतर्जाल को ठीक से पकडनेवाली ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'आज़ादी उर्फ गुलामी' व्यंग्य शैली का भी आधुनिक नमूना बन सकती है-

"आज़ादी के गोल्डन जुबली साल में
आज़ादी का मतलब है

बाज़ार से अपनी पसन्द की चीज़ चुनने की आज़ादी

और आपकी पसन्द

वे तय करते हैं।"[9]

विश्व बाज़ार के दिनों में धीरे-धीरे बाज़ार का घर में घुस जाने और बाज़ारीकरण के मन में घुस जाने की प्रवृत्ति के विभिन्न परिदृश्य कविगण प्रस्तुत करते हैं। पर्यावरण और संस्कृति में बाज़ार की अनंत सभावनाओं को खोजनेवाले नव साम्राज्यवाद नदियों को गिरवी में रखकर पानी का बहुत बडा बाज़ार बनाता है। पानी और जीवन के संबंध में आये इस दरार के दूरगामी परिणामों को उद्घोषित करनेवाली कविताएँ लिखी गई हैं- ज्ञानेन्द्रपति की 'नदी और साबुन', प्रेमशंकर शुक्ल की 'पानी का मतलब', कांता शर्मा की 'अचानक नहीं सूखी नदी', ओमप्रकाश वाल्मीकी की 'नदी की ठेकेदारी', जैसी अनगिनत कविताएँ।

पृथ्वी को मात्र बाज़ार बनाकर, ज़िन्दगी को नकार देने के खिलाफ सख्त शब्दों में संघर्ष करती है समकालीन कविता।

कभी कभी कवियों को खो गई ज़िन्दगी की स्मृतियों से भी गुज़रना पडता है, जीवित रहने के लिए उन्हें ऊर्जा की तरह अपनाना पडता है। बाज़ार, चीज़ें, विज्ञापन, मुफ्त, मुनाफा, खरीद-बिक्री, विश्वबाज़ार, कीमत, उधार, उदारीकरण, वित्तीय पूँजी जैसे समकालीन शब्दों में खो गई ज़िन्दगी की सुन्दरता को पुनः लाने का एकजुट प्रयत्न करती है कविता। कविता के शब्द आसपास की ज़िन्दगी स्वयं जीने को, अपना अस्तित्व बनाये रखने को, पूरी ज़िन्दगी को प्रायोजित करनेवाले बाज़ार में जीते भी उसमें समाये जाने की आपत्ति से बचने को प्रेरित करनेवाले हैं।

5.1.5 चेतावनी की भाषा

पूँजी की गिरफ्त में आ चुकी सामाजिकता के सामने समकालीन कविता चेतावनी रखती है कि यह एकायामी दृष्टि पूरी मानव जाति को हर कदमों पर बेचैन करनेवाली है। भोगवादी चिन्तन पद्धति से पोषित मन कभी भी तृप्त न रहता है, एक निरर्थकता महसूस करता है। उत्तराधुनिकता के नाम पर चलनेवाले सारे हरकतों से हम अपनी प्रकृति और संस्कृति से विच्छिन्न होनेवाले हैं। कुमार अंबुज भविष्यवाणी के रूप में यह चेतावनी दे रहे हैं-

"धीरे-धीरे क्षमा भाव समाप्त हो जाएगा
प्रेम की आकांक्षा तो होगी मगर ज़रूरत न रह जाएगी
झर जाएगी पाने की बेचैनी और खो देने की पीडा
एक अनंत प्रतियोगिता होगी जिसमें लोग
पराजित होने के लिए नहीं
अपनी श्रेष्ठता के लिए युद्धरत होंगे
तब आएगी क्रूरता
पडोसी सांत्वना नहीं एक हथियार देगा।"[10]

सब कहीं बाज़ार की तलाश से भ्रष्ट संस्कृति और व्यावसायिकता से आवृत्त सामाजिकता को लेकर खड़ी एक पीढ़ी के सामने वैश्वीकृत होने की सारी विडंबनाओं के प्रति चेतावनी रखना कवि अपना जीवित रहना समझता है। बेहत्तर विकल्प के रूप में बाज़ार को चुन लेना आदमियत के लिए कदापि सुरक्षित नहीं है। कवि की भाषा 'उपभोक्ताओं' की निष्क्रियता के सामने प्रश्नचिह्न लगाती है। बाज़ार के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सर्वाधिक इस्तेमाल मनुष्य का कर रहा है। विडंबनात्मक तत्व यह है

कि पूँजीवाद के केन्द्र में 'उपभोक्ता' को ठहराकर विश्व बाज़ार का प्रवर्तन हो जाता है अंत में व्यक्ति अपना अस्तित्व खोकर बाज़ार में घूमने लगता है। एक वणिक संस्कृति में पोषित समाज इस नियति से या तो अनभिज्ञ रहता है या उस समझकर भी बच पाने की हालत में नहीं होता है। यहीं कविता की चेतावनी अपनी पूरी ताकत के साथ ज़ोर पकडती है। पवन करण बाज़ार के घर घुस जाने के तंत्र को यों समझाते हैं-

"वह हमारे जीवन को सुखमय और उत्तेजक
बनाना चाहता है बशर्ते कि वह सौंप दिया जाए
खाली जगह में बैठ जाता है बाज़ार घर में घुसकर।"[11]

कविता उद्विग्न हो जाती है कि बाज़ार के कूट तरीके से बेसमझ रहनेवालों के बीच वह आसान से घुस जाता है। अपनी कविता 'आधुनिक सभ्यता' में मंगलेश डबराल आकर्षक दिखाई देनेवाली उत्तराधुनिक सभ्यता के प्रति सचेत कराके बता देते हैं-

"पैकेजिंग का युग है यह हर चीज़ ऐसे दिखती है
जैसे वह चीज़ खुद भी सिर्फ एक पैकेज हो
और उसके भीतर कोई और चीज़ रखी हई हो
आधुनिक सभ्यता की एक सरप्राइज़ गिफ्ट

बहुत दिन बाद पता चलती है उसकी सडन
बहुत भीतर जाने पर मुंह खोले हुए दिखता है।"[12]

इस प्रकार समकालीन कविता मनुष्यता के बाज़ारीकृत होने की चेतावनी के सारे पक्ष प्रस्तुत करती है। बाज़ार की दुनिया में उसके सडे- गलेपन से दूर रहने का आह्वान करती है।

5.1.6 जागृति की भाषा

समकालीन कवियों की पहचान है कि वर्तमान के प्रति जागृत होना ही उसकी विसंगतियों का पहला विशेध और प्रतिरोध है। वे समझाते हैं कि बाज़ारीकरण की प्रक्रिया से, उसके प्रचलन के बहुलतावादी प्रयासों से विरोध करना समसामयिक परिवेश में विकास का विरोध व्याख्यायित किया जाता है। बाज़ार के हस्तक्षेप से उभरे आत्मविरोध और जटिलताओं से लडने के सामाजिक उपकरण के रूप में वे अपनी कविता को मानते हैं। बाज़ार के बदले स्वरूप, गतिविधियाँ, प्रचलन तंत्र के प्रति 'उपभोक्ता' यानी 'मनुष्य' को जागृत करने से वे इस अंतर्विरोध का सच्चा विरोध प्रस्तुत कर रहे हैं।

विश्व में सभी ओर हो रहे परिवर्तनों के अनुरूप विश्वस्तरीय आर्थिक परिवेश में प्रभावी भूमिका निभाने के लिए देश को प्रतिस्पर्धात्मक बनाने की आड में विश्व व्यापार संगठन के सामने राज्य की सत्ता को न्योच्छावर करने वाली वर्तमान राजनीति और शासननीति के प्रति जागृति उठानेवाली कविता है एकांत श्रीवास्तव की 'हस्ताक्षर'। अनावश्यक वस्तुओं को बुनियादी ज़रूरतों के रूप मे प्रदर्शित करनेवाले बाज़ार, आदमी के विवेक पर कब्जा करने से पहले उसकी चालाकी के प्रति सचेत रहना आवश्यक बन जाता है। ज्ञानेन्दपति की पंक्तियाँ इस सचेतता से भरी रहती है-

"आपकी आज़ादी पसन्द है उन्हें
चीज़ों का गुलाम बनने की आज़ादी
विश्व बाज़ार के इन दिनों में
धीरे-धीरे ही बाज़ार आपका विश्व बनता है
विश्व बाज़ार जिनका जठर है।"[13]

कवि आह्वान करते हैं कि अपनी संस्कृति एवं पहचान खो जाने से पहले जागृत हो जाए और थोडी सी मानवता को बचाते रखे। बाज़ार तंत्रों की व्यापकता की पहचान करे और खयं 'उपभोक्ता' या 'वस्तु' समझने से दूर रहे। बाज़ारीकरण ने संस्कृति का भी देहीकरण किया है। कवि याद दिलाते हैं कि वास्तव में विकास के नाम से जो हम अभिहीत करते हैं वह पूँजीपतियों के हौसलों की उडान है उपभोक्ता मनोवृत्ति का लुत्फ लेना बाज़ार को आसान है और ज़रूरत इस जागृति की है कि प्रतिस्पर्धा का मुक्त वातावरण इसलिए निर्मित हो जाता है, वह उत्पादन या विकास की गुणवत्ता को बढ़ाने का तरीका नहीं बल्कि बडे ही सहज ढंग से आर्थिक एवं सांस्कृतिक वर्चस्व की स्थापना की साजिश है। आदमी को एकसाथ लुभाऊ, स्वार्थी, अधूरा और निराश बनानेवाली कूटनीतियों को पहचानने के अंतर्बोध की ओर कविगण संकेत देते हैं।

5.1.7 हाशिएकृतों की भाषा

बाज़ारीकृत युग ने किसान सहित बहुत सारे नए हाशिएकृत वर्गों का रूपायन किया है। दलित-आदिवासी वर्ग नव उपनिवेशन के प्रतिशेध के बहुत सारे तरीके अपनाने में एकजुट हुए हैं, एक ओर जातीयता और सांप्रदायिकता से लडकर, दूसरी ओर अपनी अस्मिता-संस्कृति को बाज़ार में बिकाऊ बना देने के विरोध में।

समकालीन कवियों की वाणी हाशिएकृतों की सही पहचान कराती है और उनके संघर्ष एवं प्रतिवाद की पक्षधारिता करती है।

जल-जंगल-ज़मीन पर एकाधिकार स्थापित करके बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने जनजातियों को बाज़ार का साधन बना दिया और विकास योजना की एक स्वार्थमूलक अवधारणा का कार्यान्वयन किया। लक्ष्मण सिंह कावडे की 'आज भी वैसी', सीताराम बारोट की 'वैश्वीकरण' जैसी कविताओं में आदिवासियों पर, उनकी ज़मीन पर चलनेवाले आधिपत्य का तीख्रा चित्रण हैं तो निर्मला पुतुल की 'तुम्हारे एहसान लेने से पहले सोचना पडेगा हमें', 'एक सार्थक चीख्र के पहले की गहराती चुप्पी', 'अब आम आदमी को नसीब नहीं होता आम' जैसी कविताएँ बाज़ारीकरण का सख्त प्रतिरोध है। आधुनिक बाज़ार की विडंबना को 'जब टेबुल पर गुलदस्ते की जगह बेस्लरी की बोतलें सजती है' कविता में आत्मव्यंग्य के रूप में कवयित्री प्रस्तुत करती है-

"यह कहते हुए
शर्मिन्दा महसूस कर रही हूँ
कि बाज़ार में घूमते
जब प्यास लगती है
तो पानी से ज़्यादा
पेप्सी और स्प्राइट की तलब होती है।"[14]

जंगल और ज़मीन से ज़्यादा जुडकर रहनेवाले एक समाज तक पहूँच गई बाज़ार की विरासत के प्रति लगभग सारी आदिवासी कविताओं में सजगता है।

अपनों की सौदागरी करने से पहले पूरे समाज को ज़रा सोचने को भी ये कविताएँ प्रेरित करती है।

दलित कविताओं की भाषा भी दमन-दलन की दीनगाथाओं की भाषा से एक सफल प्रतिरोध की भाषा के स्तर पर पहूँच गई है। धर्म, जाति, राजनीति के संयुक्त बाज़ार खेल में अपने अस्तित्व को बिकाऊ बना देने के वे कदापि तैयार नहीं है। दमित होने से पहले आत्मशोध करने और संघर्ष को कविता प्रेरित करती है। ओम प्रकाश वाल्मीकी की पंक्तियाँ हैं-

"रह जाती है सीमित
अख़बार की सुर्ख़ियों तक
विश्व बैंक की धनराशि
रोशनी के उस पार
जहाँ आदमी मात्र एक यूनिट है
राशन काई पर चढ़ी हुई
या फिर कागज़ का एक टुकडा
जिसे मत पेटी में डालते ही
हो जाता है वह अपाहिज
और अभिशप्त भी।"[15]

सत्ता की राजनीति, तथाकथित वैश्विक आर्थिक नीति से ठीक तरीके से पहचान करने के बाद उनके प्रतिरोध में खडी होती है दलित आदिवासी कविता। आर्थिक सुधार से वंचित रहकर बाज़ारवृत्त से बाहर रहनेवाले वर्गों में वे अभी भी शमिल हैं। एकांत श्रीवास्तव की 'दातून बेचनेवाले लडके' जैसी कविताएँ इस स्थिति पर प्रकाश डालनेवाली हैं। समकाल में दलित-आदिवासी कविता की भाषा पूँजीवादी

पाशविकता और भूमण्डलीय क्रूरता से पूरी तरह वाकिफ रहनेवाली है। उनके सपनों को, स्मृति को विनष्ट करने से लडनेवाली है।

5.1.8 संबोधन की भाषा

समकालीन कविताओं में कवि की उपस्थिति दर्ज कराने में संबोधन की प्रत्यक्ष और ध्वनित शैली का विशिष्ट हाथ है। बाज़ारोन्मुख, वस्तुस्थितियों से संवाद और संबोधन करती कविताएँ पाठक की चेतना से सीधी साक्षात्कार करने में सक्षम बनती हैं।

बाज़ारीकरण से लडती कविता हर पाठक की सोच और समझ को बार-बार आमंत्रित करके पूरे समाज को, युग को, पूरी मानवता को संबोधित करती है। पूँजीवादी नवविस्तार के युग में जिन चीजों ने मिलकर युग को अमानवीय बना दिया है उन सबका अवधारणात्मक नहीं आह्वानात्मक रूप कवि ज्ञानेन्द्रपति ने यों ध्वनित किया है-

"तुम्हारे नेत्र तल पर, कर्ण- पटल पर
उनके सन्देश की ही आवृत्तियाँ
बुनती हुई तुम्हारे भीतर एक उधेडबुन
अहर्निश एक उधेडबुन
कितना विक्रय कर सकते हो अपना
क्रय करने को एक दुनिया।"[16]

बेच-ख़रीद के ज़माने में अपना अतीत, वर्तमान और भविष्य, बाज़ार में बेचने में व्यस्त उपभोक्ता वर्ग को आत्मसाक्षात्कार करने के लिए उकसाती पंक्तियों में शोषण की सभ्यता से सीधा संवाद है।

कविता की भाषा के मुकाबले बाज़ार की विज्ञापन की भाषा ज़ोर पकडती देख्रकर कवि 'स्व' को अभिव्यक्त करने, स्थापित करने के उपयुक्त एक शब्द समूह को मज़बूत पकडना चाहता है। कुमार अंबुज इस संघर्ष पर लिख्रते हैं-

"भाषा की लाठी के सहारे ही चढ़ना होगा
भाषा से परे का यह दुर्गम
आकर्षक पहाड।"[17]

पूँजी निवेश, ख्रुले बाज़ार और प्रौद्योगिकी ने भयानक तरीके से मानव के जीने, सोचने और समझ्रने के विवेक पर हमला करने की पृष्ठभूमि में कवि की वाणी समकालीनता साधती है। विज्ञापन की 'आकर्षक' भाषा से लडना समकालीन और आगामी कवि के लिए उतना आसान नहीं होगा।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के ख्रुले आम शोषण से अतृप्त कवि वर्तमान शासन और राजनीति को अपराध मानते हैं। शोषित यानी उपभोक्ता समाज में आत्मपरीक्षण तथा आत्मालोचन की ज़रूरत बढ़ गई है। 'हत्या और अपराध' कविता में भगवत रावत निष्क्रिय युग को तीख्रे स्वर में संबोधित करते हैं-

"अपराधी और हत्यारे ख्रुले आम घूम रहे हैं
और हम देख्र रहे हैं
वे हमारे घरों में घुसे हुए हैं
और हम उन्हें चाय पिला रहे हैं
वे सम्मानित किये जा रहे हैं
और हम तालियाँ बजा रहे हैं।"[18]

प्रलोभन की राजनीति और बाज़ार के चमकीलेपन आदमी के चिन्तन को भी गुलाम बना देते हैं तो धीरे-धीरे उस अपराध के अंग बन जाने को समाज विवश हो जाता है। ख़रीदारी की आपाधापी में अपने को बेचनेवालों को जागरूक होना ही होगा, नहीं तो चीज़ें हमें निगल जाएँगी। समकालीन कविता इस अनिर्वायता को ज़ोर से दोहराती रहती हैं।

5.2 शब्द-विन्यास

समकालीन संदर्भ में जितनी ही कविताएँ बाज़ारीकरण के प्रतिपक्ष में सृजित हुईं, उन सब में शब्दचयन की पद्धति विचार एवं अनुभव को संप्रेषणीय बनानेवाली रही। बाज़ार की आक्रामकता से संघर्ष करनेवाले शब्द-समुच्चय की निर्मिति में कविगण अपनी विशिष्ट शैलियाँ ईजाद करते हैं, भाषा सत्ताभिमुख राज्यतंत्र के प्रति तीखी प्रतिक्रिया की ऊष्मा अपनाती है। कविता का संपूर्ण भाषिक विन्यास भावात्मक एवं संवेदनात्मक प्रयोग बन जाता है। डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव की राय में उपसर्गों, प्रत्ययों, क्रियाविशेषणों, संज्ञाओं और सर्वनामों के नवीन एवं विचित्र प्रयोग-संयोजनों में जो एक नवीन संवेदना उत्पन्न हुई वह समकालीन कविता की विशेषता है।

5.2.1 कविता एक महावाक्य

कविता में प्रत्येक शब्द अपनी विशिष्ट पहचान रखते हुए भी, पूरी कविता की संरचना सारे शब्दों और वाक्यों को मिलाकर एक महावाक्य बनती है। लीलाधर मण्डलोई से हुई एक बातचीत में अरुण कमल ने कविता के वाक्य-विन्यास की विशिष्टता पर ज़ोर देकर ऐसा मत प्रकट किया था- "कविता में शब्द झूठ बोल सकते हैं, पर वाक्य नहीं, लय तो कतई नहीं, जो पूरे वाक्य की या उससे भी अधिक की हो सकती है। इस लिए मेरा आग्रह है कि वाक्यों को जाँचकर देखा जाया।"[19]

बाज़ार की गिरफ्त में आ गई ज़िन्दगी को बार-बार खोलकर दिखानेवाला विवरण देकर कवि अपने वाक्यों को काव्य का सबसे समृद्ध और सबल हिस्सा बना देते हैं। वाक्यों का अप्रत्याशित किन्तु अंतर्बद्ध गठन कविता में नई अर्थछवियाँ लाता है। जीवन में बाज़ार की पहूँच को कुमार अंबुज का वाक्य विस्तार से पेश करता है-

"गुज़रते हुए हर क्षण
एक न एक बाज़ार से
हम भूलते हैं अकसर
कि कब बाज़ार में हैं और कब बाज़ार में नहीं
जहाँ ज़रा भी आबादी
वहीं दिख जाता है बाज़ार।"[20]

पूरी कविता की अर्थवत्ता को वाक्यों में व्यंजित करनेवाले कवि बाज़ार के दृश्य का खुलासा संकेत देते हैं। लीलाधर जगूडी की 'खबर का मुँह विज्ञापन से ढ़का है', बद्री नारायण की 'कटनेवाले माँस के लिए एक बाज़ार गीत', राजीव रंजन की 'बाज़ार' भगवत रावत की 'कलियुग में जब', मानो न मानो', बलदेव वंशी की 'बेच दो उर्फ बढ़ता संवेदी सूचकांक' जैसी ढ़ेर सारी कविताएँ बाज़ारीकरण की अमानवीयता से संघर्ष करते वाक्यों का सफल विन्यास प्रस्तुत करती हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि वे सब व्याख्या नहीं 'लक्ष्यात्मक संकेत' बन गये हैं। कविता के वाक्य शब्दों को अपने उपयुक्त संदर्भ एवं स्थिति में जीने की पूरी आज़ादी देते हैं अतः वे पाठकों से रचनात्मक संवाद बन पाते हैं। मदन कश्यप की कविता 'आँकडों का बाज़ीगर' की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

"जिस दिन बढ़ी कीमत नहीं चुका सकने के कारण
डबडबाई आँखों से डबल रोटी के पैकेट को निहारती हुई
वापस लौट गई थी वह नन्ही लडकी
उसी दिन मुद्रस्फीति घटने की ज़ोरदार ख़बर छपी थी
अख़बारों में।"[21]

इस प्रकार की अकृत्रिम वाक्य योजना कवि के अभिमत को अपने समय का सार्थक काव्यात्मक रूपक बना देती है, हर कदमों में बाज़ार को स्थापित होने देखकर चकित कवि का सफल हस्तक्षेप बना पाती है। समकालीन कविता युग जीवन के अनुरूप स्वरूप एवं स्वभावों को तलाशनेवाली कविता है। ताल-लय का समन्वय आज कविता का सौन्दर्यशास्त्र नहीं है बल्कि धूमिल की राय के अनुसार वह एक सार्थक वक्तव्य है।

5.2.2 लोक संस्कृति के शब्द

समकालीन कविता के शब्द समूह में पूरी ज़िन्दगी के शब्द समाहित हैं। शब्दों को अपनी वास्तविकता में पकड करके प्रयुक्त करने में माहिर समकालीन कवियों ने लोक संस्कृति, तकनीकी, मोबाइल, विज्ञापन, बाज़ार, व्यापार, अर्थशास्त्र, बोलचाल के शब्दों के प्रयोग से कविता के शिल्प की युगानुरूपता सिद्ध की है। वे सामान्य जन की ज़िन्दगी की भाषा, उनके सपनों की भाषा, उनकी खोई हुई स्मृति की भाषा को अपनाते हैं।

नव-संस्कृतिक समाज के निर्माण में एक ओर तो बाज़ार की चीज़ बनी, दूसरी तरफ़ हाशिएकृत रही लोकसंस्कृति के चिह्नों को कविगण अपनी स्मृतियों में संजोकर रखना चाहते हैं। शहरीकरण औद्योगीकरण के बहस के बीच लोकजीवन के

धरोहरों को सहेज पाना नामुमकिन हैं। फिर भी भूमण्डलीकरण के नाम पर कृत्रिम बनायी जा रही लोक संस्कृति की गत्यात्मकता को सुरक्षित रखने की इच्छा कवि प्रकट करते हैं। लोक जीवन से विच्छिन्न हो जाना वे भोगवादी सभ्यता का पोषक समझते हैं। लोक में बचाये हुए राग, सपने, संवेदना को वे पंक्तिबद्ध करते हैं। वे बार-बार दोहराते हैं कि 'लोक' होना लोक नृत्य-गीत का बाज़ार नहीं हैं, देशज चीज़ों का विपणन नहीं है। अपने विल्पुत संस्कारों की चिंता सतानेवाली वाणी में कवि यतीन्द्र मिश्र कहते हैं-

"इस दुनिया में तमाम दुनियावी चीज़ों के बीच
न अब चंदामामा है
न उनके पास हमें देने के लिए
दूध भात की कटोरी
हमारे सपनों में अब सुनाई नहीं देती बचपन की आवाज़ें
हितोपदेश, पंचतंत्र की बातें
कितना हित और किसके लिए उपदेश
नींद टूटती नहीं
होश न रहने से टूट रहा परिवेश।"[22]

मिट्टी में उगे गीत, लोक-त्योहार, जैसे भाई-दूज, हर-छठ कार्तिक एकादशी, होली के पूर्णांक होते दौआ बाबा, लोरी कहानी जैसी लोक संकल्पनाओं से अलग होती संस्कृति को भी कविगण अपनी उपजीव्य बनाते हैं।

बाज़ारीकरण के प्रचलन के बाद शॉपिंग-मेला, टेलीविज़न और अन्य अत्याधुनिक मनोरंजक क्रियाकलापों के ज़रिए विस्मृति में पटु रही नौटंकी, गाँव के

आम-मैदान के साप्ताहिक बाज़ार की स्मृतियों की, कविगण पुनरावृत्ति करते हैं। लाभेच्छा में परिवर्तित लोक संस्कार की ऊष्मा को वापस लाने की इच्छा वे प्रकट करते हैं ऋतूराज की पंक्तियाँ इसका बयान करती है-

"यह मेरा चैनल होगा
जिसपर रोटी छीनते दिखलाऊँगा उन्हें
सुबह-सुबह, चौराहे पर इकट्ठे हुए मज़दूरों की
बोली लगते हुए देखोगे।"[23]

इस प्रकार सांस्कृतिक संक्रमण के वक्त में लोक जीवन में शेष रहे कुछ पूँजीविरोधी मुद्दों को समकालीन कवि अपना लेते हैं। व्यापार के युग में बिगडे संबंधों को पुन: जोडना चाहते हैं। हमारे संस्कारों को देशज ही रखना चाहते हैं।

5.3 बिंब-प्रतीक योजना

अर्थ का तात्कालिक प्रभाव पाठक के मन पर छोडने में कवि द्वारा संकेतित प्रतीकों के ज़रिए उभरनेवाले काव्य बिंब कविता के आरंभ से लेकर अपनी उपस्थिति दर्ज करते आये हैं। युगीन स्वभावों- माँगों के अनुरूप स्वरूप परिवर्तन से गुजरते हुए भी कविता के सौन्दर्यशास्त्र में बिबं-प्रतीकों की अन्विति अपने आप होती रहती है।

5.3.1 प्रतीक

समकालीन कवियों ने अपनी कविता में प्रतीकों के बडे सटीक प्रयोग किये हैं। पारंपरिक प्रतीकों के स्थान पर नए-नए सामाजिक-राजनीतिक-प्राकृतिक प्रतीकों के विधान करके कवि अपनी युगीन प्रतिबद्धता को मज़बूत दिखाते हैं।

नवपूँजीवाद के समस्त मुद्दों को प्रतिबिंबित करनेवाले प्रतीक समकालीन कविता में उभरकर आए हैं। समकालीन संदर्भों में अभिव्यंजित करके स्थिति की घबराहट को व्यक्त कराने में इनकी कुशलता दिखाई देती है। बाज़ार के मानवविशेधी असंवेदनशील चेहरों को उद्‌घाटित करने में 'घर'-अस्तित्व का प्रतीक, 'नदी'-अस्मिता एवं संस्कृति का प्रतीक, 'पालिथिन'- संवेदनशून्यता का प्रतीक, शिकार-उपभोक्ता वर्ग का प्रतीक आदि शब्दों का खूब प्रयोग हुआ है। जैसे अष्टभुजा शुक्ल की पंक्तियाँ हैं-

"पालिथीन जैसी सहजता
हमारी मिट्‌टी में मिलकर
मिट्‌टी नहीं बन सकती।"[24]

यहाँ 'पालीथीन' बाज़ार की उस कृत्रिमता, संवेदनशून्यता का प्रतीक है, जो देशज संस्कृति में सहज रुप से मिल नहीं सकती। बहुत सारे कवियों ने इस शब्द प्रतीक को युग की असमाधेय विडंबना को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया है।

एकांत श्रीवास्तव ने 'लडकी और आम' कविता में 'आम' शब्द को बाज़ार में नारी की वर्तमान स्थिति को अभिव्यंजित करने के लिए प्रयुक्त किया है।

'घर' शब्द का प्रयोग बाज़ार में विलुप्त व्यक्ति के अस्तित्व को सूचित करने के लिए किया गया है। उपनिवेश के नये तंत्रों में अपनेपन को खोकर शून्यता महसूस करनेवाले व्यक्त की असमंजसता को एकांत श्रीवास्तव ने यों व्यक्त किया है-

"फिर एक दिन मैं घर से निकला
और रास्ता भटक गया

इतने सारे रास्तों में

जाने कहाँ खो गया वह रास्ता

जिससे होकर मैं पहूँचता था अपने घर।"[25]

हमारे शब्द पर, फूल पर, आवाज़ पर, रीढ़ पर पूँजी का हमला चल रहा है कि हम चीख न सके, लडे न सके। 'मिट्टी के सुगंध' को अपने खोये हूए गाँव की समृति के रूप में कवि पेश करते हैं।

अरुण कमल की कविता 'थूक' में 'थूक' अन्याय के विरुद्ध समाज की प्रतिक्रिया को द्योतित करता है। बद्रीनारायण की कविता 'मोर-नाच' 'मोर' को प्रतीक बनाकर सदी की बाज़ार-लीला को व्यक्त करती है-

"कि इतना व्यापक और गहरा है शिकारपन का असर

कि कहना कठिन है कि

कौन भला आदमी अपने दैनंदिन जीवन के किस

क्षण में कहाँ-कहाँ शिकारी में तब्दील होता जा रहा है।"[26]

क्रय- विक्रय में बाज़ार का अस्तित्व निहित रहता है। बाज़ार उपभोक्तावर्ग की मुनाफेच्छा का कुशल प्रबंधन करके हर एक को शिकारी-शिकार संबंध में सीमित कर डालता है।

समसामयिक सत्ता की बौद्धिक-सामाजिक आलोचना करने में कवियों ने मशरूम यानी कुकुरमुत्ता, रेशम का कीडा, टेडी बियर, खेसाडी दाल, आलू जैसे प्रतीकों को लाकर देशी उत्पादन, प्राकृतिक संपदा की रक्षा आदि पर ज़ोर दिया है।

अष्टभुजा शुक्ल की कविता 'खेल और खिलौने' समकालीन भारत की आर्थिक नीति का प्रतिनिधित्व करती है-

"अपने खिलौने
हमें उधार पर बेचकर
उन्होंने खरीद लिये
हमारे खेल
खेल नहीं बचे हमारे पार
अब सिर्फ खिलौने हैं
उधार के खिलौने।"[27]

विश्व व्यापार संगठन की आर्थिक नीतियों के अनुसरण करके बाज़ारीकृत होते गये देश की नियति को उपरोक्त कविता बहुत बारीकी से व्यंजित करती है।

इस प्रकार 'पूँजीवाद का बुलडोज़र', 'सब कुछ को बेचने-खरीदने के युगबोध का स्पिरिट लैंप', जैसे प्रयोग भी बाज़ार की अतिव्याप्ति को सूचित करते हैं। ज्ञानेन्द्रपति ने 'नदी और साबुन' कविता में साबुन को 'उत्तर-पूँजीवादी बाज़ार' का प्रतीक बनाया है।

इसप्रकार बाज़ार के शोषणकारी निमंत्रणें को, बढ़ती संवेदनशून्यता को अभिव्यक्त करने में कवियों ने प्रतीकों का समन्वय भाषा में किया है।

5.3.2 बिंब विधान

बिंब काल्पनिक या वास्तविक वस्तुओं या घटनाओं के रंग, ध्वनि, गीत और आकार-प्रकार से पूर्ण प्रभावशाली चित्र का नाम है। काव्य रचना के समय में कवि

के मन में जिस प्रकार का ऐन्द्रिय शब्द चित्र बनता है, उसका पाठक के मन में भी बनने से काव्य बिंब की सफलता होती है। सपाटबयानी करनेवाली समकालीन कविता में बिंब को 'काव्य-प्रभाव' नाम से अभिहीत करना अधिक समीचीन होता है। कविता के सौन्दर्य को बढ़ाने या भाव को जटिल बनाने की दृष्टि से हटकर वर्तमान काल की विसंगतियों, विडंबनाओं को भावबोध के रूप में संकल्पित करने की चित्रात्मक शैली के रूप में बिंब का विश्लेषण कर सकता है।

इन्द्रियों के आधार पर प्रस्तुत किए गए बिंब पाठकों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालते हैं। समकालीन कविता की विशेषता यह है कि उसमें प्रायः लघु बिंबों का गठन हुआ है। बाज़ार की अमानवीयता का एक बिंबविधान मंगलेश डबराल की 'रोने की जगह' में है-

"इन दिनों रुदन कहीं से भी उठने लगता है
आंसू किसी भी जगह दिख्र जाते हैं
चमचमाते बाज़ार अपना अंधकार अपने पिछवाडे में भेजते रहते हैं
उसे पार करते हुए लगता है एक नदी बह रही है
जहाँ भिख्रारी,पागल,अनाथ बच्चे बेसहारा पशु लहरों की तरह है।"[28]

समकालीन कवियों ने बाज़ार के अनदेख्रे चेहरों, व्यापार के दुष्चक्रों के स्पर्श-शब्द बिंब गठित किये हैं। साथ ही साथ रूप बिंबों का भी अन्वय किया गया है।

हवा, पानी की बोतल, सौन्दर्य, इमारत, जैसे बिंबों को लेकर समय की सच्चाई को बाज़ारीकृत करनेवालों पर व्यंग्य उठाया गया है। 'सभ्यता के पूर्ण विराम की तरह धरती की छाती में गडे मकान', 'व्यापार के संदेशों से लदा वायुमंडल',

'पूरे ब्रह्माण्ड में शरीर को दरी की तरह बिछाते हुए' जैसे रूप बिंबों का गठन बाज़ार की विस्तृति की ओर इशारा करते हैं।

नवपूँजीवाद को 'पत्थर का सिंहासन' जैसे स्पर्श बिंबों से द्योतित किया गया है।

बाज़ारीकरण के युग में काव्य बिंब स्थिर होने के बज़ाय गतिशील अधिक दिखते है। जैसे-

"विज्ञापनों से निकल एक शेर
मेरे चाँद को ले बाज़ार की और जा रहा है।"[29]

अपनी एक कविता में कुमार अंबुज ने 'नीम का पता पूछकर घूम रहे चरक' के मिथकीय बिंब की अन्विति की है। 'अशोक' जैसे ऐतिहासिक बिंब, नरेन्द्र बुश, जार्ज मोदी जैसे राजनैतिक बिंब, भी कविताओं में उभरकर आए हैं।

5.4 सूक्तियों का गठन

समकालीन कविता में युगानुरूप सूक्तियों के प्रयोग का भरमार है, जिनके माध्यम से बाज़ार के सारे पक्षों से कवि का साक्षात्कार काफी मज़बूत दिखाई पडता है।

ये सूक्तियाँ कवि के चिन्तन-आकलन की स्वाभाविक परिणतियाँ मालूम पडती हैं, जो कविता की सार्थकता के लिए अनिवार्य भी प्रतीत होती हैं।

उदा:

- आज कविता को पहले से भी ज़्यादा सपाट होना चाहिए ताकि कहा जाय रोटी को रोटी।

- आगे लोग पराजित न होने के लिए नहीं अपनी श्रेष्ठता के लिए युद्धरत होंगे।
- हर रोज़ पहचाननी होती है हँसी में छिपी चालाकी और संवेदना में छिपी हिंसा।
- अब कला को संवेदना नष्ट करने के माध्यम में बदला जा रहा है।
- खुद को वस्तुओं से घेरते हुए मनुष्य ही अपने पर अतिक्रमण करता है।
- आज मनुष्यों की बज़ाय सभ्यता ने वस्तुओं में अधिक निवेश कर दिया है।
- चीज़ों की कीमतें आकाश में चढ़ गई है और आदमी का बाज़ार भाव गिर गया है।
- अब तक हम अपनी भूख से लडते थे, अब हमें अपनी प्यास से भी लडना होगा।
- विश्वबाज़ार के इन दिनों में धीरे-धीरे ही बाज़ार आपका विश्व बनता है।
- सच पराजित तो होता रहा है मगर इतना हताश पहले कभी नहीं दिखा ।
- बाज़ार विचार की तरह नहीं है जो आपका साथ छोड दे, विचार के अकाल या अंत के दौर में बाज़ार सर्वव्यापी और अनंत है।

इस प्रकार की स्थापनाओं माध्यम से कवियों नें पाठकों को आत्म प्रक्षालन करने की प्रेरणा भी देते हैं।

5.5 निष्कर्ष

बाज़ारीकरण के दौर में भाषा कविता में प्रतिरोध का एक नव संसार रचती है। बाज़ार की भाषा में कहें तो, व्यापार ही वर्तमान जीवन की व्याव्या बन गया है

और समकालीन कवि बाज़ार के तहत चलनेवाले शोषण और मानवाधिकार हनन के प्रतिपक्ष में अपनी प्रतिबद्धता दिखाते हैं। उनकी भाषा में जनपक्ष के शब्द ही मूर्त बन जाते हैं। काल के सारांश वक्तव्य प्रकट करके, जीवन की नमी संवेदनाओं को बचाते रखने में काव्यभाषा अपनी 'समकालीनता' सिद्ध करती है। पर्यावरण पर, संबंधों पर, संवेदनाओं पर, मानव-अस्तित्व पर भयानक ढंग से आक्रमण और अतिक्रमण करते उत्तर- पूँजीवाद के नेपथ्य में कविता का मानदण्ड काव्यशास्त्रीय नहीं, मानवीय बन जाते हैं। बहुरूपात्मक विषम सामाजिक यथार्थ में गहरे धँसकर कवियों ने सहज वक्तव्य और कभी कभी व्यंग्य समृद्ध वक्तव्य की शैली को स्वीकारा है। नारी की भाषा, आदिवासी की भाषा, दलित की भाषा बाज़ार में एक ही है, अपने को बनाये रखने की तीव्र आकांक्षा को लेकर अभिव्यक्त होनेवाली जिजीविषा है। अतः समकालीन काव्य भाषा वर्तमान संघर्ष का सौन्दर्यात्मक रूपान्तरण है जो जागरूक पाठक की सूक्ष्म अनुगामिता माँगती है।

संदर्भ-सूची

1. वाक् अंक -7, 2010, पृ.176
2. अरुण कमल- मैं वो शंख महाशंख, पृ.102
3. कुमार अंबुज- क्रूरता, पृ.25
4. लीलाधर मण्डलोई- काल बाँका तिरछा, पृ.75
5. कुमार अंबुज- क्रूरता, पृ.27
6. संजय कुंदन, योजनाओं का शहर, पृ.51
7. निलय उपाध्याय- कटौती, पृ.34
8. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी- शब्द और शताब्दी, पृ.165
9. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.123
10. कुमार अंबुज- क्रूरता, पृ.22
11. पवन करण, अस्पताल के बाहर टेलीफोन, पृ.15
12. मंगलेश डबराल- नये युग में शत्रु, पृ.43
13. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.124-125
14. निर्मला पुतुल- बेघर सपने, पृ.65
15. ओम प्रकाश वाल्मीकी- अब और नहीं, पृ.86
16. ज्ञानेन्द्रपति- संशयात्मा, पृ.33
17. कुमार अंबुज- अतिक्रमण, पृ.39
18. भगवत रावत- ऐसी कैसी नींद, पृ.37

19. अरुण कमल- कथोपकथन, पृ.37

20. कुमार अंबुज- अतिक्रमण, पृ.56

21. मदन कश्यप- कवि ने कहा, पृ.36

22. यतीन्द्र मिश्र- ड्योढ़ी पर आलाप, पृ.43-44

23. ऋतुराज- आशा नाम नदी, पृ.48

24. अष्टभुजा शुक्ल- दुस्वप्न भी आते हैं, पृ.104

25. एकांत श्रीवास्तव- बीज से फूल तक, पृ.76

26. बद्रीनारायण- ख़ुदाई में हिंसा, पृ.23

27. अष्टभुजा शुक्ल- इसी हवा में अपनी भी दो चार साँस है, पृ.10

28. मंगलेश डबराल- नये युग में शत्रु, पृ.64

29. बद्रीनारायण- ख़ुदाई में हिंसा, पृ.44

छठा अध्याय

उपसंहार

मुक्त अर्थ व्यवस्था का आगमन नब्बे के बाद अपने नये रूप में हुआ है। इस व्यवस्था में बाज़ार की सत्ता सर्वोपरि है। राज्य की सत्ता सिकुड जाती है और बाज़ार तथा बहुराष्ट्रीय निगमों की गठजोड से एक समानान्तर राज्य व्यवस्था का निर्माण हो जाता है। इंसानियत के हाशिएकरण और परोक्ष उपनिवेशन का एक उत्तराधुनिक खेल चल रहा है। एकायामी जीवन दृष्टियों का पोषण कर बाज़ार पूरी दुनिया का नियंता बन जाता है। संपत्ति बढ़ती जाती है किन्तु उसका एकध्रुवीकरण भी ज़ोर से हो रहा है।

मानवीय रागात्मकता और मानव के वैविध्यमय चेतना के संघर्ष के सौन्दर्यात्मक रूपान्तरण करनेवाली कविता समकालीन परिप्रेक्ष्य में अपने समय के मुख्य अंतर्विरोधों की पहचान कराती है। वह जीवन की प्राथमिकताओं में 'अर्थ' को सर्वश्रेष्ठ माननेवाली मानसिकता के विरुद्ध लडने का दृढ़संकल्प करती है। जीवनानुभवों में मानवीयता और राष्ट्रीयबोध को उचित स्थान देकर अस्तित्वसंघर्षी संदर्भों में उन्हें विश्लेषित करती है। समय का सटीक चितंन करनेवाली कविता में सामान्य जनता के जीवन को अधोरेखित करने की, उसपर उठायी जानेवाली चुनौतियों का सामना करने की तीव्रकामिता दिखाई देती है।

बाज़ार की शक्ति की अभिव्यक्ति वर्तमान व्यापार व्यवस्था में धन को गत्यात्मकता से जोडने के विभिन्न उपायों के रूप में द्रष्टव्य होती है। बाज़ार अब बेचने- ख़रीदने का वह स्थान मात्र नहीं रह गया है बल्कि समकालीन संस्कृति बन गई है। वह उपभोक्तावादी सभ्यता का उत्पादक और पूँजीवादी सत्ता का नव अवतार है। कहा जा सकता है कि व्यापार पर आधृत विभिन्न देशों के संबधों का पोषक और निर्धारक बाज़ार ही है। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच बाज़ार ने अपना एक

सुनिश्चित 'स्पेस' बना दिया है, चाहे वह दृश्य हो या अदृश्य, प्रत्यक्ष हो या परोक्ष। बाज़ार द्वारा अनुशासित एक समाज की नियति बन गई है कि वह अपनी पूरी गतिविधियों में 'उदार' हो, 'निजी' हो और 'मुनाफेदार'भी हो।

बाज़ारीकरण अर्थव्यवस्था को पूर्णत: बाज़ार पर केन्दित एक संगठन में रुपान्तरित करने की जटिल प्रक्रिया है। बाज़ारीकरण की प्रेरक क्रियाओं के रुप में उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण का संयुक्त प्रयास रहा है। व्यापार और पूँजी प्रवाह के तमाम बंधनों को उदारीकृत करके आर्थिक क्रियाकलापों के लिए एक मुक्त वातावरण का निर्माण करना उदारीकरण का लक्ष्य रहा। विपणन की निर्बाध गति से जुडकर यह प्रक्रिया बाज़ार की सत्ता को और भी मज़बूत करा देती है। उत्पादन में बढ़ाव तो ज़रूर होता है तो भी धन या संपत्ति का केन्द्रीकरण मुक्त बाज़ार में हो जाता है। मुक्त बाज़ार को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को एक एक करके सारे क्षेत्रों से विदा लेना पड रहा है। वैश्विक बाज़ार को स्वावलंबी बनाने हेतु, पूँजी के मुक्त प्रवाह को प्रोत्साहित करनेवाले एक वैश्विक वातावरण निर्मित करने के लिए, विश्व व्यापार संगठन का गठन हुआ था, वह अब नव साम्राज्यवाद का कार्यकर्ता सिद्ध हो रहा है।

बाज़ार की माँग और आपूर्ति को संतुलित रखने, उत्पादन और रोज़गार में वृद्धि करने तद्वारा देश के विकास करने का जो सपना नवपूँजीवाद द्वारा दिखाया गया था वह अधूरा ही रह गया है। सामान्य जनता को शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्रों से भी हाशिएकृत करनेवाली नवउदारवादी व्यवस्था बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हस्तक्षेप को प्रोत्साहित कर रही है। निजीकरण व्यवसाय, उद्यम, एजेंसी या सार्वजनिक सेवा के स्वामित्व के सार्वजनिक क्षेत्र, राज्य या सरकार से निजी क्षेत्र, निजी लाभ के लिए

संचालित व्यवसाय या निजी गैर- लाभ संगठनों के पास स्थानांतरित होने की घटना या प्रक्रिया है। एक व्यापक अर्थ में निजीकरण राजस्व संग्रहण तथा कानून प्रवर्तन जैसे सरकारी प्रकार्यों सहित कार्यक्षेत्रों के निजी क्षेत्र में स्थानान्तरण को संदर्भित करता है। दवाओं सहित सर्वजनोपयोगी वस्तुओं के कीमत निर्धारण के क्षेत्र से भी सरकार हटाया जा रहा है। गैर सरकारी अस्पताल बीमारियों का इलाज करते हैं लेकिन बीमारी को रोकने की प्रक्रिया में सहभागित्व नहीं करते। निजी बीमा कंपनियों और निजी अस्पतालों के बीच का समझौता स्वास्थ्य के बाज़ार को खुला देता है।

पूँजीवाद का सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठान 'बाज़ार' क्रेताओं की क्रय क्षमता को उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक क्षमताओं से ऊपर और महत्वपूर्ण घोषित करता है। विश्व बाज़ार व्यवस्था के निर्माण के बाद प्रत्येक देश की राजनीति को भी बाज़ार की ज़रूरतों के अनुसार संचालित होना पडा। दुनिया को सिर्फ खरीदने -बेचने की जगह के रूप में रूपायित कर रहा है बाज़ारवाद। क्रयशक्ति के आधार पर समाज में व्यक्ति का अस्तित्व आँका जाता है तो सारी सामाजिक प्रक्रियाएँ व्यापारिक हितसाधक क्रियाएँ बन जाती हैं। मानव का दृष्टिकोण वस्तुपरक और भोगपरक बन जाता है। राजनीतिक और आर्थिक अस्थिरता से बच जाने की तीव्रेच्छा के कारण नब्बे के बाद भारत को भी विश्व बाज़ार व्यवस्था से जुडना पडा था। व्यापार के प्रत्यक्ष नियंत्रण हटा लिये जाने और प्रत्यक्ष निवेश आकर्षित करने के बहुत सारे प्रयास किये जाने के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था भी बाज़ारीकरण के पथ पर आ पहूँची थी।

आर्थिक विनिमय के उदारीकरण में 'गैट करार' और 'विश्व व्यापार संगठन' अपनी नयी नीतियों की मदद से भाग लिये। वर्तमान दौर में व्यापार के क्षेत्र में अमरीका के वर्चस्व को स्थापित करने में विश्व व्यापार संगठन सफल हुआ है।

उपभोक्तावाद, मॉल संस्कृति, वस्तुकरण, विज्ञापन, मीडिया, पेटेंट आदि नई-नई व्याख्याओं के ज़रिए बाज़ार विस्तृति पा रहा है। यह एक मुनाफा केन्द्रित जीवन दृष्टि का प्रोत्साहन कर रहा है, जिसमें मुक्त भोग का समर्थन है। मानव संबंध, सरोकार और संवेदनाएँ भी इस दृष्टि के बाहर नहीं रह सकते। अल्पविकसित और अविकसित देशों पर आर्थिक दबाव बढ़ता जा रहा है और मानवता पर दम घोंट देती पूँजी- सत्ता का राज चल रहा है। चिन्तन शक्ति और प्रतिक्रियात्मकता को भी बौना करके बाज़ार नये नये विपणनतंत्रों से ग्राहक पटा रहा है, ऋणों का उत्सवीकरण कर रहा है। खेती के विनाश के साथ उपोत्पाद के रूप में पारिस्थितिकी का विनाश भी हुआ है। हवा और पानी का शुद्धीकरण खेतों से, पेडों से जुडा हुआ है, इसलिए खेतों की जगह उपजे बडे-बडे मॉलों-कारखानों के साथ धरती के विध्वंस और विस्थापन के बीज भी बोये हुए हैं। खाद्य उत्पादों की सब्सीडी न के बराबर बनाकर पूँजीपति बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सब्सीडी देने में सरकार भी तत्पर है।

इसी रचनाविरोधी-प्रतिक्रियाविरोधी परिदृश्य में अपनी शिल्पप्रविधि को बाज़ारीकृत होने से बचा लेने की तीव्र आकांक्षा में कवि गण बाज़ारीकरण का प्रतिवाद कर रहे हैं।

भारतेंदु काल से ही पूँजी के उपनिवेश तंत्रों से कवियों का विरोध और प्रतिरोध देखने को मिलते हैं। अंग्रेज़ों की व्यापार नीतियों का विरोध, देशी माल के उत्पादन का प्रोत्साहन, पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण पर व्यंग्य, करके भारतेंदुकालीन कवियों ने स्वदेशीपन का समर्थन किया।

पूँजी का केन्द्रीकरण, अर्थप्रधान समाज से विलुप्त होती संवेदनाओं, बाज़ार की मुनाफाधारिता, बाज़ारू-उपभोक्तावादी मानसिकता को लेकर द्विवेदी युगीन

कवियों ने भी कविताएँ लिखीं। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' का मुख्य प्रतिपाद्य भारत में बाज़ार का आधिपत्य जमानेवाले अंग्रेज़ों का सख्त विरोध ही है।

औद्योगीकरण और यंत्रयुग के माहौल में लिखी गई छायावादी कविता स्वतंत्रता संग्राम की देशी चिन्ताओं से भी जुडी हुई है। निराला, पंत और प्रसाद की कविताओं में साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से संचालित प्रशासनिक-आर्थिक व्यवस्था का प्रखर प्रतिरोध द्रष्टव्य है। अर्थाश्रित सभ्यता में नष्ट होती आत्मीयता और मूल्यों के वस्तुकरण को लेकर छायावादी कवि चिंतित रहे। भौतिकता की चमक में फीकी पड गई मानवीयता को बचाना वे कविकर्म मानते थे। देशवासियों को जागृत होकर गुलामी के औपनिवेशिक तंत्रों से लडने का आह्वान उन्होंने किया था।

प्रगतिवाद- प्रयोगवाद से लेकर नब्बे तक की कविता भी शहरीकरण, धन का आधिपत्य, विज्ञापन का मायाजाल, उदारीकरण और निजीकरण की नीतियाँ, बाज़ार की नियंत्रणकारी सत्ता के संदर्भ में प्रतिपक्ष रचती रही। गजानन माधव मुक्तिबोध, सुदामा पाण्डेय धूमिल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, रामशेर बहादूर सिंह, लीलाधर जगूडी, राजेश जोशी, राजकमल चौधरी, अरूण कमल जैसे कवि इस कालखण्ड में जीवन के आर्थिक पक्ष द्वारा बाकी सारे जीवन्त पक्षों को निगल जाने की नियति से लडते रहे।

नब्बोत्तर कविता बाज़ार द्वारा प्रायोजित प्रतीयमान वास्तविकता को नकारती है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अपनी ज़मीन छीन लेने, खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र से धकेल दिये जाने, आत्महत्या करने को उकसाये जानेवाले किसानों के पक्ष में कविता खडी हो जाती है। नवपूँजीवाद की साम्राज्यवादी लालच सामान्य जनता को गरीब, बेरोज़गार, ऋणी बनाकर उसे हाशिएकृत करनेवाली है। महँगी बाज़ार को सस्ता

दिखाकर किसान सहित पूरे वर्गों को उपभोक्ता की असफलता में डुबाने की कला नव उपनिवेश है। उमाशंकर चौधरी की 'किसान बैठा है खेत की आड पर', अरुण देव की 'गेहूँ का उचित मूल्य', नीलेश रघुवंशी की 'विज्ञापन में किसान', ज्ञानेन्द्रपति की 'बीज व्यथा' जैसी कविताएँ आर्थिक उदारीकरण के नाम पर बाज़ार की परिधि से बाहर फेंक जानेवाले किसानों की पक्षधर बन जाती हैं। कवि बयान करते हैं कि खेती के प्रति होनेवाली इस नज़र-अन्दाज़ी ही देशी अर्थव्यवस्था को विश्वबाज़ार की गुलाम बनने दे रही है। पूँजी के वैश्वीकरण के साथ-साथ गरीबी का भी एक वैश्विक परिदृश्य विकसित हुआ है। यह बाज़ार के चमकीले चेहरे के हाशिए में छिपकर रखा हुआ है। पूँजी निवेश गरीबी मिटाने केलिए नहीं आर्थिक एकीकरण के लिए किया जाता है। राजेश जोशी की 'बच्चे काम पर जा रहे हैं', 'लेबर कॉलेनी के बच्चे' जैसी कविताएँ विकास के दौर में बाल मज़दूरी के विरोधाभास का पोल खोल देनेवाली हैं।

तीसरी दुनिया के देशों से भी अधिक संपन्न बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ आम आदमी को अपने अभाव के प्रति सचेत कर रही हैं। उनके द्वारा विरचित बाज़ार में आकर्षण और दबाव की मनोवैज्ञानिकता ठीक से काम कर रही हैं। कुमार अंबुज की 'बाज़ार' रामदरश मिश्र की 'विश्वग्राम', जया जादवानी की 'बाज़ार' दिनेशकुमार शुक्ल की 'जय बाज़ार', ज्ञानेन्द्रपति की 'आज़ादी उर्फ गुलामी', 'कदम-कदम पर' जैसी कविताओं में बाज़ारीकरण के सबसे सशक्त वित्तीय उपकरण बहुराष्ट्रीय निगमों की ताकत की सूचना देनेवाली हैं। अधिकांश समकालीन कविताओं में अर्थव्यवस्था के अमरीकीकरण की परोक्ष प्रक्रिया का प्रतिरोध देखने को मिलता है। लीलाधर मण्डलोई की कविता 'मैं इतना अपढ़ जितनी सरकार', ज्ञानेन्द्रपति की 'दिनान्त पर

आलू', मंगलेश डबराल की 'कुशल प्रबंधन' जैसी बहुत सारी कविताओं में बाज़ारीकरण की इस राजनीति पर व्यंग्य है। निलय उपाध्याय की कविता 'सबक' इसका एक स्वदेशी प्रतिविकल्प प्रस्तुत करती है।

बाज़ार में नारी और पर्यावरण एकसमान उपजाऊ माने जाते हैं। देश के आर्थिक विकास में इन दोनों की असीम संभावनाओं का भरपूर उपयोग और उपभोग किया जा रहा है। एकांत श्रीवास्तव की 'लडकी और आम', सविता सिंह की 'नया-नाच', लीलाधर जगूडी की 'सौ-गलियोंवाला बाज़ार', विष्णु नागर की 'बाज़ार' जैसी कविताओं में नारीपन को बाज़ारीकृत करने का सबल प्रतिरोध है। 'इको टूरिज़्म' और 'सेक्स इरिज़्म' की नई विकास योजनाएँ पर्यावरण और नारी के प्रति उभरी भोगवादी चिन्तन पद्धति की नवीन संभावनाएँ है। ज्ञानेन्द्रपति, कात्यायनी, शमदरश मिश्र, अष्टभुजा शुक्ल, निर्मला पुतुल, संजय कुंदन, अनीता वर्मा जैसे अनेक कवि नारी और प्रकृति पर आधृत बाज़ार के प्रतिपक्षी बन जाते हैं।

अपने वैश्विक स्वरूप में बाज़ार ज़रूरतों का पूर्तिकर्ता नहीं सृष्टिकर्ता है। विज्ञापन और मीडिया का साथ लेकर एक मायालोक की रचना करके वह कई प्रकार के दबाव डाल रहा है और प्रतियोगिता और उपभोगभूल्य का समर्थन कर रहा है। निजीकरण के नाम पर सुविधाओं और आम जनता की बुनियादी ज़रूरतों पर बहुराष्ट्रीय निगमों का उपनिवेशन कवियों की दृष्टि में मानवाधिकारों का प्रत्यक्ष हनन है। कुमार अंबुज की 'कहीं कोई ज़मीन नहीं' इसका ठीक बयान करती है। ख्राली जेब लेकर बाज़ार में प्रवेश निषेध है और भरी जेब बाज़ार में ख्राली ही बन जाती है साथ ही साथ मुक्त बाज़ार का खुलापन मन को भी ख्राली बना देता है।

बाज़ार संस्कृति की गतिशीलता का भी एकध्रुवीकरण कर रहा है। कवियों की दृष्टि में बाज़ार ने संस्कृति को उद्योग में रूपान्तरित किया है। राष्ट्र की मूलभूत ज़रूरतों को बाज़ार के अनुकूल पुनः निर्धारित करने से एक ऐसे समाज का निर्माण हो रहा है जिसमें हमेशा अपनी स्वार्थ सिद्धि के फिराक में रहते और ज़रूरतों की संतुष्टि को सर्वोच्च मानते क्रेता-विक्रेताओं का झुण्ड रहता है। समकालीन कविता का समाजशास्त्र इस रूपान्तरण प्रक्रिया के पूरे चाल-चलन से अवगत कराता है, आत्मशोध के मार्ग ढूँढता है। जीवन के समस्त वादों- प्रतिवादों में धन- मुनाफे को सर्वोपरि माने जाते हैं तो कविता इन निर्धारक तत्वों की पुनर्रचना की हठ करती है।

पूरी मानवीय चेतना को नियंत्रित करके और अवांछित सहमति के साँचों में ढालकर पनपनेवाली प्रायोजित संस्कृति में कवियों की सर्जनात्मक नीति उसके सामने हार नहीं मानती है। पंकज राग की 'ज़मीन आसमान', राग तेलंग की 'शब्दों से', विमल कुमार की 'मुखौटा', लीलाधर मंडलोई की 'दीवाना कबीर', कैलाश वाजपेयी की 'हर हाल में', राज किशोर की 'फिर भी कविता' आदि भोगवाद के विरुद्ध लडनेवाली कविता की ताकत को दर्शानेवाली, अपने को बाज़ारीकृत होने से सुरक्षित रखने की उम्मीद दिखानेवाली कविताएँ हैं।

भूमण्डलीकरण की इच्छाएँ विपणन पर ज़ोर देनेवाली हैं। विपणन तंत्रों के एकाधिकार को रूपायित करने एवं आर्थिक विनिमय को वैश्विक रूप से नियंत्रित करने के मध्यवर्ती दलाली कर रही है आज की संस्कृति के उपरूपक। असीमित उत्पादन और अनियंत्रित उपभोग के बीच भावनात्मक फासलों में बढ़ोत्तरी हो रही है और जीवन संबंधविहीन-रसशून्य बन रहा है। बाज़ार का मनोविज्ञान समकालीन कवियों को सबसे अधिक भयावह लगता है। रिश्तों को बनाये रखने में समकालीन

व्यक्ति कितना उदासीन दिखाई देता है और घरों को चीज़ों से भरा मकान बना देकर उन्हीं के समान वस्तु में रूपान्तरित हो जाता है, कवि इस प्रक्रिया की तीव्र गति से चकित हो उठते हैं। एकांत श्रीवास्तव की 'मेरा घर', पंकज राग की 'ख़ुशबू', विनय विश्वास की 'बूढ़ा', रमणकुमार सिंह की 'ओल्डहोम', कुमार अंबुज की 'याददाश्त', 'दौड', अशुतोष दुबे की 'गूँज' आदि संबंधों की नमी को बचा लेने की आकांक्षाओं से भरी हुई कविताएँ हैं। अभिव्यक्तियों को ध्वस्त करनेवाली आर्थिक प्रणाली प्रतिरोधों और संघर्षों को भस्मीभूत कर डालने की भदतंत्री सभ्यता को पनपने देती है तो कवि आमादा हो जाता है कि प्रतिरोध की नई संबोधन-संवाद शैली को अपनाना ज़रूरी बन गया है।

किसी भी दाम पर बाज़ार का अटूट हिस्सा बन जाने और अकूत सुविधाओं के भोग करने की लालच से व्यक्ति और उसका परिवार बाज़ारीकरण की सामाजिक प्रक्रिया से गुज़र जाता है, उसका 'एजेंट' बन जाता है। इतिहास भाषा, संबंध, आदमियत, धर्म, राजनीति, प्रकृति जैसे सांस्कृतिक उपादानों को भी बाज़ारानुकूल बना देनेवाला समकालीन परिदृश्य मनुष्य और समाज के सांस्कृतिक अस्तित्व का विपणन कर रहा है। संस्कृति पर नव उपनिवेशन करनेवाला बाज़ार एक असभ्य सभ्यता का ठेकेदार बन गया है। यहीं समकालीन कवि 'अर्थ' के समर्थक एवं व्याख्याकार बनने की अनिच्छा को प्रकट करते हुए आदमी की सोच- समझ और वैचारिकता में जम गई बाज़ारू भावना को ज़िन्दगी के सामाजिक पक्ष से जोड देते हैं। बाज़ार के शोषणतंत्र से समझौता करना वे अपनी पराजय मानते हैं।

कुमार अंबुज की 'अतिक्रमण' बद्रीनारायण की 'कटनेवाले माँस के लिए एक बाज़ार गीत', बलदेव वंशी की 'ख़ुद को सुनना ख़ामोश घर में', राजीव रंजन

की 'बाज़ार', लालाधर जगूडी की 'विज्ञापन-सुन्दरी', लीलाधर मंडलोई की 'करबे की दूकान', संजय कुंदन की 'हत्यारे', कुमार अंबुज की 'नई सभ्यता की मुसीबत', 'बाज़ार', भगवत रावत की 'कलियुग में जब', 'मानो न मानो' यतीन्द्र मिश्र की 'भारत 2047' जैसी सशक्त काव्य टिप्पणियाँ अपनी विस्थापित संस्कृति की ऊष्मा को पुनःअर्जित करने के सर्जनात्मक प्रयास है। कवियों का प्रतिरोध अपनी मिट्टी, अपना गाँव, अपनी स्मृति की रक्षा के लिए है, अपनी भाषा में अभिव्यक्त होने की इच्छा से प्रेरित है।

शासन की अयोग्य राजनीति देश की जनता को विश्व बैंक में गिरवी रखती है, सार्वजनिक संपत्ति को निजीकृत करके, नदी- तटों पर 'प्रवेश-निषेध प्राइवेट प्रोपर्टी' का बोर्ड लगा के, चुनाव के बाज़ार में धर्म, मूल्य और नैतिकता को लेकर सौदेबाजी कर रही है। खुली हवा, धूप, पानी पर एकाधिकार स्थापित करके पूरी संस्कृति की अस्मिता को प्रकृति से अलग करने की साजिशों में देश का शासन भी शामिल हुआ है। बेचने- खरीदने में व्यस्त होकर आदमियत 'स्व' में सिकुड गई है। कविता अपना दायित्व विलुप्त हई वैचारिकता और संवेदना को सामाजिकता से पूनः जोडने में समझती है। बाज़ार के खुले दरवाज़ों की ओर भटकने वाले आदमी को सचेत करना कविता में प्रतिरोध का पहला स्वर बन जाता है। व्यापारिक नियमों के आधार पर चलनेवाले जीवन में मानवीयता से हस्तक्षेप करके कविता चुनौती देती है कि माँ की ममता, बेटी की दुलार और पत्नी का एकनिष्ठ लगाव अपनी पूरी संवेदनायुक्त बाज़ार में मिल जाए तो तभी कह सकते हैं कि बाज़ार में सबकुछ मिलता है।

प्रेमरंजन अनिमेष की 'अपना बाज़ार', मंगलेश डबराल की 'ताकत की दुनिया', 'भूमण्डलीकरण', राजी सेठ की 'दूकानदार', मदन कश्यप की 'निर्बल

पाख्रण्डी', कुमार अंबुज की 'चाय की गुमटी', लीलाधर मण्डलोई की 'कोई क्यों नहीं आता यहाँ', एकांत श्रीवास्तव की 'ठंडे पानी की मशीन' आदि कविताएँ युगीन संदर्भों को बाज़ारीकृत समझ्रनेवालों की उद्विग्न चिन्ताएँ हैं।

कवियों की भाषा भी समकालीन परिदृश्य को सूक्ष्मता से आँकनेवाली है। वह उम्मीद, ज़िन्दगी और मानव की भाषा है। वह अप्रचलित शब्दों का निरर्थक प्रवाह नहीं बल्कि प्रचलित शब्दों की अप्रचलित विन्यास पद्धति है। काव्य-मुद्राओं और चमत्कारों से भिन्न एक कालचेतना, आत्म-व्यंग्य के स्वर प्रसारित करनेवाली भाषा में समकालीन कवि बाज़ारीकृत दुनिया के सामने निजता एवं सचेतता से युक्त एक समानान्तर बेहत्तर विकल्प के रूप में एक अप्रत्याशित सौन्दर्य युक्त दुनिया को प्रस्तुत करते हैं। ज्ञानेन्द्रपति की 'यह पृथ्वी क्या केवल तुम्हारी है' राजेश जोशी की 'अतिरिक्त चीज़ों की माया' जैसी कविताओं में छिपी हुई मानव विरोधी असलियत को ख्रोज निकालनेवाली प्रेरक भाषा का प्रयोग है तो कुमार अंबुज, भगवत रावत, कैलाश वाजपेयी, लीलाधर जगूडी, मंगलेश डबराल जैसे कवियों की भाषा में हर कदम पर बाज़ार को देख्रकर चकित मानव की असहायता और अस्तित्व संघर्ष की तलाश विद्यमान है। बाज़ार के असुन्दर और भयावह पक्षों को ख्रोल देनेवाली भाषा में व्यंग्य, संघर्ष, प्रतिरोध, स्मृति भरे हुए हैं जो सीधे जीवन को संबोधित करती है।

अपने आर्थिक, वाणिज्यिक, सामाजिक, साजनीतिक, सांस्कृतिक पक्षों में बाज़ार समृद्धि का सूचक शब्द बनकर व्यक्ति की चिन्तन पद्धति और जीवन तत्वों में साधिकार प्रवेश पा लिया है। आर्थिक उदारीकरण के माध्यम से एक मुक्त वैश्विक समाज एवं संस्कृति को साकार करने का सामूहिक प्रयास बाज़ारीकरण में परिणत हुआ। नब्बे के बाद की कविता संस्कृति को स्मृतिशेष बनानेवाली इस प्रक्रिया के हर

पहलुओं के प्रति सचेत एवं जागरूक है। कवियों की सामाजिक सूक्ष्मता उनके शब्दों-आख्यानों में स्पष्टता पाती है। 'बाज़ार' अपने सामान्य शाब्दिक मतलब से विकसित होकर मानव- अस्तित्व के निर्धारक-रूपक बन जाने की अनवरत प्रक्रिया के एक-एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतः बाह्य क्रियाओं को समकालीन कवि व्याख्यायित करते हैं। वे समझते हैं कि व्यक्ति को 'उपभोक्ता' के रूप में देखे जाने की साजिश से अवगत होना बाज़ारीकृत होने का पहला प्रतिरोध है।

अध्ययनोपरांत उभरे हुए विचार बिदुंओं को कुछ इस प्रकार समेटा जा सकता है-

- 'बाज़ार' एक स्थान-संस्था के सूचक शष्द से अतिव्याप्ति प्राप्त करके एक युग के प्रतिनिधित्व करनेवाली विशाल अभिव्यक्ति बन गया है।
- पुनरुत्पादन शक्ति से विहीन बीज़ों के निर्माण करने के समान, सोच-समझ-अभिव्यक्ति विहीन क्रेता वर्ग का रूपायन नव पूँजीवाद के सशक्त औजार के रूप में बाज़ार का लक्ष्य है।
- एक बहुसांस्कृतिक समाज को एकायामी (अर्थायामी) बनाना बाज़ारीकरण का लक्ष्य है ताकि आर्थिक एकीकरण किया जा सके।
- सुख्रवाद और भोगवाद बाज़ार के बहुमूल्य सांस्कृतिक माल हैं ।
- बाज़ारीकरण ने मूल्यों एवं रिश्तों में परिवर्तन किया है।
- उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण की संयुक्ति नव उपनिवेश का धनतंत्र है, जिसका कार्यान्वयन बाज़ारीकरण है। बाज़ार की ओर प्रवृत्त होनेवाली मानसिकता बाज़ारीकरण का पहला पडाव है।

- नब्बे के पहले की हिन्दी कविता में उपनिवेश के बाज़ार तंत्रों का कटु विरोध हुआ है और उसके बाद की कविताओं में यह विरोध मज़बूत हो गया है।
- नब्बोत्तर हिन्दी कविता में विस्थापन एवं विनाश के कगार पर खडी हुई संस्कृति की पहचान की गई है।
- व्यापारिक हितसाधक क्रियाओं में पूँजी का केन्द्रीकरण होने के विरोध करनेवाले कवि बाज़ार के विरुद्ध नहीं, बाज़ारीकरण के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं।
- कवि समझते हैं कि विकास के कार्यान्वयन में हाशिएकृत होनेवालों के पक्ष में खडा होना 'कवित्व' है।
- बाज़ारीकरण के अमानवीय पक्षों को नकारनेवाले कवि आत्म-व्यंग्य और आत्म-संबोधन की शैली ईजाद करते हैं।
- बौद्धिकता और वैचारिकता को बाज़ार की तलाश में भटकानेवाली शोषण की राजनीति उत्तर उपनिवेशन की उपउत्पाद है।
- धरती को बंजर, आकाश को जहरीला और संस्कृति को बिकाऊ बनानेवाली आर्थिक नीति ने नव-सुख्रवाद को जन्म दिया है।
- कवियों की समझ है कि विकास के कार्यक्रमों में विध्वंसित प्रकृति और संस्कृति का पुनर्निर्माण असंभव है। मानव अपनी सामंजस्यपूर्ण ग्रामव्यवस्था में वापस नहीं जा सकते। लेकिन इस बात की ज़रूरत है कि समानता और स्वतंत्तता के मूल्यों पर आधारित, रचनाविरोधी-मानवता विरोधी सभ्यता के प्रतिसंसार की रचना में सब एकजुट हो जाएँ।
- देश में उत्पादन की उदासीनता और उपभोग की उत्कण्ठा ने मिलकर यह ख्रतरनाक वातारण तैयार किया, जो गरीबी दूर करने के राष्ट्रीय अभियान के

लिए घातक है, जिसकी प्रतिपूर्ति करने में उत्पादन-विपणन की देशी तकनीकों को मजबूत करने का विकल्प कवियों ने प्रस्तुत किया है।

- अर्थकेन्द्रित जीवन दर्शन को प्रश्रय मिलनेवाले दौर में, जीवन केवल आर्थिक सफलता-विफलता का इतिहास रह जाता है तो भीतर की रसशून्यता मानव की चिंतन परिधि को संकुचित करती है। यहीं कविगण समाज से संवाद की संभावनाओं का भरपूर प्रयोग करते हैं।
- बाज़ार घर से भी ज़्यादा हमारी सोच में शामिल है, हमारे बीच की नष्ट जगहों की स्मृति की कवि पुनराख्यान करना चाहते हैं।
- कविता की भाषा के मुकाबले विकसित, आसानी से सबको अपनी गिरफ्त में लेनेवाली बाज़ार- विज्ञापन की भाषा के विरुद्ध और भी धीरज और ध्यान संभालना अनिवार्य है।
- बाज़ारीकरण की पूरी त्रासदी और विडंबना को समकालीन कवियों ने अपना काव्याधार बनाया है, जिसके घोर आक्रमण को भाषा की ऊष्मा से प्रतिरोधित करने की प्रवृत्ति उनमें मिलती है।
- समकालीन कविता बाज़ारोन्मुख्र समय और स्थापत्य का सामना अपने गहन अनुभवों के बल पर करती है, पाठकों से रचनात्मक संवाद करके जटिल स्थितियों के प्रति जागरूक बना देती है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

कविता संग्रह

1. अनामिका : कवि ने कहा,
   किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
2. अनामिका : खुरदरी हथेलियाँ
   राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
3. अनीता वर्मा : एक जन्म में सब
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
4. अनीता वर्मा : रोशनी के रास्ते पर
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
5. अरुण कमल : नये इलाके में
   वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
6. अरुण कमल : पुतली में संसार
   वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
7. अरुण कमल : मैं वो शंख्र महाशंख्र
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
8. अशोकशाह : समय के पार चलो
   राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
9. अष्टभुजा शुक्ल : इसी हवा में अपनी भी दो चार साँस हैं
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
10. अष्टभुजा शुक्ल : दुस्वप्न भी आते हैं
    राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

11. आलोक धन्वा : दुनिया रोज़ बनती हैं
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

12. उदय प्रकाश : कवि ने कहा
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

13. उमाशंकर चौधरी : कहते हैं तब शाहँशाह सो रहे थे
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,2011

14. ऋतुराज : आशा नाम नदी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

15. एकांत श्रीवास्तव : बीज से फूल तक
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

16. ओमप्रकाश वाल्मीकी : अब और नहीं
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

17. कात्यायनी : इस पौरुषपूर्ण समय में
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

18. कुमार अंबुज : अतिक्रमण
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

19. कुमार अंबुज : अनंतिम
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

20. कुमार अंबुज : अमीरी रेखा
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

21. कुमार अंबुज : क्रूरता
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

22. कैलाश वाजपेयी : भविष्य घट रहा है
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,1999

23. कैलाश वाजपेयी : संक्रात
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,1964

24. कैलाश वाजपेयी : हवा में हस्ताक्षर
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

25. खगेन्द्र ठाकुर : रक्तकमल परती पर
समीक्षा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

26. गजानन माधव मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढा है
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,1975

27. गिरिजाकुमार माथुर : मुझे और अभी कहना है
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,1991

28. चन्द्रकान्त देवताले : आग हर चीज़ में बताई गई थी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987

29. चन्द्रकान्त देवताले : इतनी पत्थर रोशनी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

30. चन्द्रकान्त देवताले : पत्थर की बैंच
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

31. चन्द्रकान्त देवताले : पत्थर फेंक रहा हूँ
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

32. जयशंकर प्रसाद : कामायनी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

33. निर्मला पुतुल : अपने घर का तलाश में
रमणिका फाउंडेशन, नई दिल्ली, 2004

34. निर्मला पुतुल : नगाडे की तरह बजते शब्द
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,2005

35. निर्मला पुतुल : बेघर सपने
आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2014

36. निलय उपाध्याय : कटौती
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

37. नीलेश रघुवंशी : घर निकासी
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

38. नीलेश रघुवंशी : पानी का स्वाद
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

39. नेमिचन्द्र जैन : मुक्तिबोध रचनावली- खंड एक
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

40. नेमिचन्द्र जैन : मुक्तिबोध रचनावली- खंड दो
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

41. पवन करण : अस्पताल के बाहर टेलीफोन
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

42. पवन करण : कहना नहीं आता
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

43. पवन करण : कोट के बाजू पर बटन
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

44. पंकज राग : यह भूमंडल की रात है
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

45. प्रभात त्रिपाठी : सडक पर चुपचाप
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

46. सं. डॉ. प्रमोद कोवप्रत : काव्य चयनिका
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015

47. बद्री नारायण : खुदाई में हिंसा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

48. बद्री नारायण : शब्दपदीयम्
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

49. बलदेव वंशी : उपनगर में वापसी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988

50. बलदेव वंशी : धरती हाँफ रही है
आर्य प्रकाशन मंडल, नई दिल्ली, 2007

51. भगवत रावत : अम्मा से बातें और कुछ लंबी कविताएँ
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

52. भगवत रावत : ऐसी कैसी नींद
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

53. भगवत रावत : देश एक राग है
परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2009

54. भगवत रावत : हमने उनके घर देखे
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

55. भारत यायावर : हाल-बेहाल
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

56. मदन कश्यप : कवि ने कहा
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

57. मदन कश्यप : नीम रोशनी में
आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2000

58. मन मोहन : जिल्लत की रोटी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

59. महेश संतोषी : अलविदा बीसवीं सदी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

60. मुकेश मानस : पतंग और चरखडी
अतिश प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

61. मैथिली शरण गुप्त : भारत भारती
साहित्य सदन, झाँसी, 1974

62. मैथिली शरण गुप्त : साकेत
साहित्य सदन, झाँसी, 1986

63. मंगलेश डबराल : आवाज़ भी एक जगह है
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

64. मंगलेश डबराल : नये युग में शत्रु
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

65. मंगलेश डबराल : हम जो देखते हैं
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

66. यतीन्द्र मिश्र : ड्योढ़ी पर आलाप
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

67. रघुवीर सहाय : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

68. रघुवीर सहाय : लोग भूल गये हैं
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982

69. राजकमल चौधरी : ऑडिट रिपोर्ट, सं. देवशंकर नवीन
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

70. राजेश जोशी : चाँद की वर्तनी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

71. राजेश जोशी : दो पंक्तियों के बीच
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

72. राजेश जोशी : नेपथ्य में हँसी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

73. रामदरश मिश्र : बारिश में भीगते बच्चे
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

74. लीलाधर जगूडी : ईश्वर की अध्यक्षता में
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

75. लीलाधर जगूडी : ख़बर का मुँह विज्ञापन से ढ़का है
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

76. लीलाधर जगूडी : भय भी शक्ति देता है
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991

77. लीलाधर मंडलोई : काल बाँका तिरछा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

78. विनय विश्वास : पत्थरों का क्या है
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

79. विनोद कुमार शुक्ल : अतिरिक्त नहीं
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

80. विमल कुमार : पानी का दुखडा
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

81. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : शब्द और शताब्दी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

82. विश्वरंजन : आती है बहुत अन्दर से आवाज़
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

83. विष्णु नागर : कवि ने कहा
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

84. वीरेन डंगवाल : दुश्चक्र में स्रष्टा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

85. श्याम कश्यप : लहू में फँसे शब्द
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

86. शिवमंगल सिंह सुमन : प्रलय सृजन
आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1969

87. सं. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन अज्ञेय : तारसप्तक
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,1970

88. सं. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन अज्ञेय : तीसरा सप्तक
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,1971

89. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : जंगल का दर्द
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984

90. सविता सिंह : नींद थी और रात थी
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

91. सुदामा पाण्डेय धूमिल : कल सुनना मुझे
युगबोध प्रकाशन, वाराणसी, 1970

92. सुदामा पाण्डेय धूमिल : संसद से सडक तक
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972

93. सुधा उपाध्याय : इसलिए कहूँगी मैं
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

94. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : अणिमा
भारती भण्डार, इलाहाबाद, 1981

95. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : अपरा
साहित्यकार संसद, इलाहाबाद, 1962

96. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : अनामिका
भारती भण्डार, इलाहाबाद, 1937

97. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : नये पत्ते
लोक भारती, इलाहाबाद, 1997

98. संजय कुंदन : योजनाओं का शहर
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

99. हरीश्चन्द्र पाण्डेय : भूमिकाएँ ख़त्म नहीं होतीं
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली,2006

100. ज्ञानेन्द्रपति : गंगातट
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

101. ज्ञानेन्द्रपति : संशयात्मा
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

समीक्षा ग्रंथ

1. अजय तिवारी : नागार्जुन की कविता
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

2. सं. अभयकुमार दुबे : भारत का भूमण्डलीकरण
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

3. सं. अमित भादुडी, दीपक नय्यर : उदारीकरण का सच
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

4. डॉ. ए. अरविन्दाक्षन : समकालीन हिन्दी कविता
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

5. अरुण कमल : कथोपकथन
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

6. अरुण कमल : कविता और समय
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

7. डॉ. करुणा उमरे : हिन्दी कविता- भाषा और शिल्प विविध प्रतिमान, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2002

8. करुणाशंकर उपाध्याय : आधुनिक कविता का पुनर्पाठ
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

9. कुमार भास्कर : भूमण्डलीकरण और स्त्री
संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

10. कुमुद शर्मा : भूमण्डलीकरण और मीडिया
ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, 2003

11. डॉ. गीता दबे : पंत काव्य में समाज और संस्कृति
गरिमा प्रकाशन, कानपुर, 2002

12. डॉ. नवल किशोर दुबे : शमशेर : एक समालोचना
अपोलो प्रकाशन, जयपुर, 2008

13. डॉ. पद्मजा घोरपडे : समकालीन हिन्दी कविता की नयी सोच
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

14. परमानन्द श्रीवास्तव : कविता का अर्थात्
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

15. परमानन्द श्रीवास्तव : समकालीन कविता नये प्रस्थान
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

16. परमानन्द श्रीवास्तव : समकालीन कविता संप्रेषण का संकट
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

17. डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय : आपातकालोत्तर हिन्दी कविता
जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 2008

18. पूनमचन्द्र तिवारी : द्विवेदीयुगीन काव्य
मध्यप्रदेश हिन्दी अकादमी, भोपाल, 1982

19. पुरुषोत्तम अग्रवाल : संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

20. प्रफुल्ल कोलख्यान : बाज़ारवाद और जनतंत्र
आनन्द प्रकाशन, कोलकत्ता, 2006

21. प्रभा खेतान : उपनिवेश में स्त्री : मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

22. प्रभा खेतान : बाज़ार के बीच : बाज़ार के खिलाफ
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

23. प्रभा खेतान : भूमण्डलीकरण, ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

24. प्रियदर्शन : ग्लोबल समय में कविता
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

25. प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

26. प्रेमसिंह : उदारीकरण की तानाशाही
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

27. बद्रीनारायण : प्रतिरोध की संस्कृति
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

28. सं. डॉ. माधव सोनटक्के, डॉ. अंबादास देशमुख : वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में भाषा और साहित्य
अतुल प्रकाशन, कानपुर, 2010

29. मैनेजर पाण्डेय : हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

30. डॉ. रणजीत : हिन्दी की प्रगतिशील कविता
हिन्दी साहित्य संसार, नई दिल्ली, 1981

31. डॉ. रमाकान्त आपरे : नागार्जुन के काव्य में जनवादी चेतना
विकास प्रकाशन, कानपुर, 2010

32. सं. डॉ. पी. रवि : कविता का वर्तमान
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

33. राजेश जोशी : समकालीनता और साहित्य
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

34. रामकली सराफ : समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1997

35. रामगोपाल सिंह : वैश्वीकरण, मीडिया और समाज
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2011

36. रामचरण जोशी : इक्कीसवीं सदी के संकट
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

37. रामविलास शर्मा : प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986

38. रामविलास शर्मा : भारतेंदु युग
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1951

39. लीलाधर मंडलोई : कविता के सौ बरस
शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

40. विजयशंकरमल्ल : हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद और अन्य निबंध
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

41. विनय विश्वास : आज की कविता
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

42. विश्वनाथप्रसाद तिवारी : समकालीन हिन्दी कविता
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010

43. विश्वंभरनाथ उपाध्याय एवं मंजुल उपाध्याय : समकालीन हिन्दी कविता की भूमिका
मैकमिलन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976

44. विष्णु नागर : भारत एक बाज़ार है
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

45. शिवप्रसाद शुक्ल : कविता की समकालीनता
माया प्रकाशन, कानपुर, 2013

46. शंभुनाथ : सभ्यता से संवाद
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

47. शंभुनाथ : संस्कृति की उत्तरकथा
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

48. श्यामाचरण दुबे : समय और संस्कृति
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

49. डॉ. एम. षण्मुखन : काल का गवाहीनामा
जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 2013

50. सच्चिदानन्द सिन्हा : पूँजी का अंतिम अध्याय
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

51. सच्चिदानन्द सिन्हा : भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

52. डॉ. सरोज चौरसिया : मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में युग चेतना
लोकवाणी संस्थान, नई दिल्ली, 2011

53. सुधीश पचौरी : उत्तराधुनिक साहित्यिक विमर्श
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

54. सुधीश पचौरी : पॉपुलर कल्चर के विमर्श
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

55. सूरज पालीवाल : हिन्दी में भूमण्डलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

56. संजय राठोड : समकालीन कविता का बदलता परिदृश्य
साहित्य सागर, कानपुर, 2014

57. डॉ. संतोषकुमार तिवारी : अज्ञेय से अरुण कमल, भाग-1
भारतीय ग्रंथ निकेतन, नई दिल्ली, 2005

58. डॉ. संतोषकुमार तिवारी : छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना
भारतीय ग्रंथ निकेतन, नई दिल्ली, 1974

59. डॉ. हरिचरण वर्मा : धर्मवीर भारती का काव्य : सृष्टि और दृष्टि
मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर, 2007

60. हुकुमचन्द राजपाल : समकालीन कविता, चर्चित परिचित चेहरे
नालन्दा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

61. डॉ. यू. श्रीकला : समकालीन कविता और शमशेर बहादूर सिंह, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 2008

मलयालम ग्रंथ

1. प्रो. के. अरविन्दाक्षन : आगोलीकरणकालत्ते प्रतिरोध चिन्तकल्, ग्रीन बुक्स, तृश्शूर, 2010

2. एम.पी. वीरेन्द्रकुमार : अधिनिवेशत्तिन्टे अडियोष्ठुक्कुकल्, मातृभूमि बुक्स, कोष़िक्कोड़, 2004

3. एम.पी. वीरेन्द्रकुमार, पी.ए. वासुदेवन : लोकव्यापार संघटनयुम् ऊराक्कुडुक्कुकलुम, मातृभूमि बुक्स, कोष़िक्कोड़, 2002

अग्रेज़ी ग्रंथ

1. Biplab Dasgupta : Globalisation India's Adjustment Experience, Sage Publications, New Delhi, 2005
2. K.K. Dewett, J.D. Varma : Elementary Economic Theory, S. Chand & Company Pvt. Ltd., New Delhi, 2013
3. Ganesh. G : Privatisation in India, Mittal Publications, New Delhi, 2001
4. C. Gopinath : Globalisation, Sage Publications, New Delhi, 2008
5. V.B. Jugale : Globalisation, Growth and Poverty, Series Publications, New Delhi, 2004

कोश- ग्रंथ

1. सं. अभयकुमार दुबे : समाज विज्ञान विश्वकोश, खण्ड- 4 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

पत्रिकाएँ

1. आलोचना- जूलाई- सितंबर - 2001
2. आलोचना- जनवरी- मार्च - 2003
3. आलोचना- जूलाई- सितंबर - 2003
4. आलोचना- जनवरी- मार्च - 2008
5. आलोचना- अप्रैल- जून - 2008
6. आलोचना- जनवरी- मार्च - 2013
7. आलोचना- अक्तूबर- दिसंबर - 2013

8. आलोचना- जनवरी- मार्च - 2014

9. आलोचना- जनवरी- मार्च - 2015

10. इन्द्रप्रस्थ भारती-जुलाई- सितंबर - 2014

11. जन विकल्प- मई 2011

12. नया ज्ञानोदय- फरवरी 2005

13. पंच शील शोध समीक्षा- अक्तूबर- दिसंबर - 2009

14. पंच शील शोध समीक्षा- जनवरी- मार्च - 2010

15. पंच शील शोध समीक्षा- अप्रैल- जून - 2012

16. मधुमती - जनवरी 1999

17. मधुमती - जून 2007

18. मधुमती - फरवरी 2011

19. मधुमती - जनवरी 2013

20. राजभाषा भारती - अक्तूबर - 2004

21. वर्तमान साहित्य - मार्च - 2009

22. वर्तमान साहित्य - जनवरी- 2010

23. वर्तमान साहित्य - जुलाई - 2012

24. वर्तमान साहित्य - सितंबर - 2013

25. वाक् - अंक - 1- 2010

26. वाक् - अंक - 7- 2010

27. वागर्थ- अगस्त - 2011

28. विश्व हिन्दी पत्रिका - 2012 (मोरिशस)

29. समकालीन भारतीय साहित्य- मार्च- अप्रैल- 2004

30. समकालीन भारतीय साहित्य- नवंबर- दिसंबर- 2006

31. समकालीन भारतीय साहित्य- नवंबर- दिसंबर- 2008

32. समकालीन भारतीय साहित्य- मई- जून- 2009

33. समकालीन भारतीय साहित्य- नवंबर- दिसंबर- 2009

34. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई- अगस्त- 2011

35. समकालीन भारतीय साहित्य- मार्च- अप्रैल- 2013

36. समकालीन भारतीय साहित्य- मई- जून- 2014

37. समकालीन भारतीय साहित्य- मई- जून- 2015

38. समकालीन भारतीय साहित्य- जुलाई- अगस्त- 2015

39. साहित्य अमृत- सितंबर - 2008

40. साहित्य अमृत- फरवरी - 2014

41. साक्षात्कार- फरवरी - 2007

42. संग्रथन- फरवरी - 2012

43. संग्रथन- अप्रैल - 2012

44. हंस- जुलाई- 2015

वेब पताएँ

1. http://hindi.webdunia.com
2. http://onetwotrade.com
3. http://www.globalissues.org
4. http://www.marketisation.org
5. http://www.sahityakunj.net
6. http://www.wikipedia.privatisation.net